श्रीमद्भगवद्गीता

भाषा टीका दोहा युक्त।

❀ प्रकाशक ❀

बाबू बैजनाथ प्रसाद बुक्सेलर।

राजा दरवाजा बनारस सिटी।

* ॐ *

* तत्सत् *

श्रीमद्भगवद्गीता ।

भाषाटीका दोहा युक्ता ।

उन्नाव प्रदेशान्तर्गत बरौड़ा ग्राम निवासी ज्योतिर्विद् पं० आनन्दमाधव दीक्षितात्मज पं० महाराजदीन दीक्षित कृत भाषा टीका दोहा समलंकृता ।

* बम्बई *

टाइप से विभूषित ।

बाबू बैजनाथप्रसाद बुकसेलर

राजा दरवाजा, बनारस सिटी

द्वारा प्रकाशित ।

महेशप्रसाद द्वारा—

सत्यनाम प्रेस; मैदागिन, बनारस सिटी में मुद्रित ।

भूमिका।

समस्त विद्वद्वर वेदान्तानुरागी पुरुषों को विदित हो कि यह भगवद्गीता श्रीमद्वेदव्यास रचित महाभारतान्तर्गत भीष्म पर्व में वर्णन किया गया है जिस समय कौरव और पांडव लोग निज २ चतुरंगिणी सेनाओं को लेकर कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से उद्यत हुये उस समरांगण में श्री कृष्णचन्द्रजी अर्जुन के रथपर सारथी कर्म में उद्यत थे और युद्ध के समारंभ समय दोनों पक्ष के शूर वीर गुरु द्रोणाचार्य पितामह भीष्म जी, कर्ण दुर्योधनादि बन्धुजनों को मरने और मारने के लिये उद्यत देखकर मोह को प्राप्त होकर अर्जुन बन्धुजनों के वधसे होने वाले पाप से भयभीत होकर युद्ध से हटने की इच्छा को प्रकट करते हुये आर्त वचन श्रीकृष्ण प्रति कहे।

इस वचन को सुनकर अर्जुन के मिष से अनेक सांसारी मनुष्यों को भवसागर से पार उतरने का उपकार जान श्रीकृष्ण चन्द्रने परम दयालु भाव से इस गीता शास्त्र को कहा कि जिसको सुनकर अर्जुन युद्ध को करते भये। इस पुनीत शास्त्र को कलियुग में जो कोई पुरुष क्षणमात्र भी भक्ति भाव से युक्त नित्य श्रवण पाठ भजन करता है वह अवश्य मोक्ष को पाता है कारण कि विना ज्ञान के मोक्ष साधन हो नहीं सक्ता और यह गीता शास्त्र ज्ञान रूपी (ज्ञानामृत) नदी ही है इसकी विशेष प्रशंसा करना व्यर्थ है यह जगत-प्रसिद्ध गीता शास्त्र को ऐसा कौन आबाल वृद्ध पुरुष है जो इसको नहीं जानता होवै परन्तु इसको जानकर इसका मनन करना पश्चात् इसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके सत आचरणों को धारण करके कर्म करना मुख्य इसका यही उद्देश्य है।

गीता प्रमाण—इस गीता शास्त्र में एक श्लोक धृतराष्ट्र का, नव दुर्योधन के, बत्तीस श्लोक सञ्जय के, चौरासी अर्जुन के, बाकी पाँचसौ चौहत्तर श्लोकों में श्री कृष्णचन्द्र भगवान ने अर्जुन को ज्ञानोपदेश किया है यह समस्त ग्रन्थ सातसौ श्लोकों से पूर्ण है।

विनीत—बैजनाथ प्रसाद बुक्सेलर, बनारस सिटी।

पूजनीय सज्जन वृन्द !

परम्परा से यह प्रथा चली आती है कि मान्य जनों के निकट खाली हाथ उपस्थित होना शिष्टाचार का उल्लंघन करना है अतएव अनुचित है परन्च "पत्रं पुष्पं फलं तोयं' जो कुछ बन पड़े लेकर उपस्थित होना शिष्टानुमोदित एवं युक्ति संगत है। अस्तु अनवरत अत्यन्त उत्कण्ठा रहने पर भी आप विद्वद्वर सज्जनों की सेवा में उपस्थित होने का सौभाग्य मुझे नहीं प्राप्त होता था। आज उस परम ब्रह्म परमात्मा की अपार कृपा से ही ऐसा सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ कि प्रसिद्ध श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद रूपी श्रीमद्भगवद्गीता की हिन्दी प्रचलित भाषा टीका तथा दोहा युक्त करके आप सज्जनों की सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।

यह जानता हूँ कि मुझ ऐसे विप्र बालक का इस भाँति साहस हास्यजनक ही होगा तथापि आप लोगों की असीम उदारता ने मुझे चुप रहने नहीं दिया और मैं ढिठाई के साथ यह जानकर कि "गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्वम्" आप सज्जनों की सेवा में इस टूटी फूटी हिन्दी भाषानुवाद तथा दोहाओं को लेकर निग्रहानुग्रह का अधिकारी हुआ हूँ।

आपका विनीत

पं० महाराजदीन दीक्षित

मु० अरौडा-पो० पंडरीकलां

जि० उन्नाव (अवध)

ता० १६-८-१९१४ ई०

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* ॐ नमो भगवते वासुदेवाय *

॥ अथ श्री गीतामाहात्म्य ॥

ऋषिरुवाच-गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद ॥
पुराणमुनिना प्रोक्तं व्यासेन मुनिनोदितम् ॥ १ ॥

श्री शौनकादि ऋषि अनेक प्रकार की भगवत् सम्बन्धी पुण्य कथायें सुनकर श्री सूतजी से बोले कि,—हे सूतजी! जिस भाँति वेदव्यास ने श्री भगवद्गीता का माहात्म्य कहा है सोई कृपया मुझ से वर्णन करिये ॥ १ ॥

पृष्टं भवद्भिऋषिभिर्यद्धि गोप्यं पुरातनम् ॥
शक्यते केन वै वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

शौनक के इस पुनीत प्रश्न को सुनकर श्रीसूतजी बोले कि—हे ऋषि! यह उत्तम गीता माहात्म्य अद्यावधि गुप्त अतिप्राचीन है और इसके वर्णन करने को किसकी सामर्थ्य है ॥ २ ॥

कृष्णो जानाति वै सम्यक् किंचित्कुन्तीसुतः फलम् ॥
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योथ मैथिलः ॥ ३ ॥

इसको भलीभाँति श्रीकृष्णचन्द्रजी जानते हैं कुछ अर्जुन, व्यास, शुकदेव, याज्ञवल्क्य, अथवा जनक भी जानते हैं ॥ ३ ॥

अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं संकीर्त्तयन्ति च ।
तस्मात्किंचिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ॥ ४ ॥

अन्य पुरुष न जानते हुये कानों से सुनकर संसार में वर्णन करते हैं परन्तु जिस प्रकार मैंने श्री व्यास जी से सुना है उसको मैं सूक्ष्म से वर्णन करता हूँ ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ५ ॥

समस्त उपनिषद् गौ रूप होती भई दुहने वाले श्रीकृष्णचन्द्र ने बछरारूप अर्जुन को इस उत्तम माहात्म्यरूपी दुग्ध को प्रथम पान कराते भये ॥ ५ ॥

सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥ ६ ॥

जो श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुन के सारथी बनकर गीतारूपी अमृत को पान कराया उन श्रीकृष्ण को शतशः मेरा नमस्कार है ॥ ६ ॥

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥ ७ ॥

जो पुरुष संसाररूपी घोर समुद्र से पार उतरने की इच्छा करैं वह गीतारूपी नौकापर चढ़कर शीघ्र पार पा सक्ते हैं ॥ ७ ॥

गीताज्ञानंश्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ॥ ८ ॥

जो पुरुष मोक्ष चाहता हुआ अभ्यास योग से गीता सम्बन्धी ज्ञान को भली भाँति सदैव नहीं सुनता है वह मूर्ख बालकों करके अवश्य उपहास को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥ ९ ॥

जो अहर्निश गीता को पढ़ते सुनते हैं वह पुरुष निस्सन्देह मनुष्य होते हुए भी देवताही के तुल्य हैं ॥ ९ ॥

गीताज्ञानेन सम्बोधं कृष्णः प्राहार्जुनाय वै ।
मोक्षस्थानं परं पार्थ सगुणं वाऽथ निर्गुणम् ॥ १० ॥

श्री कृष्णचन्द्र जी गीतारूपी ज्ञान से सम्बोधन करते हुये अर्जुन प्रति सगुण अथवा निर्गुण परम मोक्ष स्थान गीता कहा है ॥१०॥

सोपानाष्टशतैरेवं परं ब्रह्माधिगच्छति ।
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिनेदिने ॥ ११ ॥

उक्त परम मोक्ष स्थान को गीतारूप अष्टाशत सीढ़ियों द्वारा

मनुष्य प्राप्त हो सकता है पुरुषों को शारीरिक मल छुड़ाने के लिये जल में नित्य स्नान करना होता है ॥ ११ ॥

सकृद् गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्।
परास्यान्न श्रुतं ज्ञानं तस्मिन श्रद्धा न भावना ॥ १२ ॥

परन्तु एक बार भी गीतारूपी जल में स्नान करने से संसाररूपी मल नाश हो जाता है इससे परे दूसरा ज्ञान नहीं है ॥१२॥

गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम्।
स एव मानुषे लोके मनुजो विड्वराहकः ॥ १३ ॥

जो पुरुष गीता का पढ़ना पढ़ाना नहीं जानते वह मनुष्य देह धारण किये ग्रामशूकर रूप हैं ॥ १३ ॥

तस्माद् गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः।
धिक् तस्य मानुषं देहं धिक् ज्ञानं कुलशीलताम् ॥१४॥

जो गीता को नहीं जानता उससे अधम दूसरा पुरुष नहीं है उसके मनुष्यदेह और ज्ञान,कुल और शीलताको बारंबार धिक्कार है ॥१४॥

गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः।
धिक्शरीरं शुभं शीलं विभवं सद्गृहाश्रमम् ॥ १५ ॥

जो जन गीतार्थ को नहीं जानते उससे अधम अन्य पुरुष नहीं हैं उसके सुन्दर शरीर को, शील को, विभव को, गृहाश्रम को बार बार धिक्कार है ॥ १५ ॥

गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः।
धिक् प्रागल्भ्यं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महत्तमम् ॥ १६ ॥

जो गीता शास्त्र को नहीं जानते उनसे परे अधम कोई नहीं है उनकी हिम्मत, प्रतिष्ठा, पूजा, मान, महात्मापन को धिक्कार है ॥१६॥

गीताशास्त्रे रतिर्नास्ति सर्वं तन्निष्फलं जगुः।
धिक् तस्य ज्ञानमाचारं व्रतं निष्ठातपोयशः ॥ १७ ॥

जिसकी प्रीति गीता शास्त्र में नहीं है उसका समस्त कर्म

निष्फल है और उसके ज्ञान, आचार, व्रत, निष्ठा, तप, यशको भी अत्यन्त धिक्कार है ॥ १७

गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ।
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्यासुरसंमतम् ॥ १८ ॥

जिसने गीतार्थ को नहीं पढ़ा उससे अधम दूसरा नहीं है जो गीता में कहा गया ज्ञान उसको जो नहीं जानता उसका आसुरी ज्ञान जानना ॥ १८ ॥

तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।
तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ॥ १९ ॥

वह व्यर्थ, धर्मरहित, वेदवेदान्त में निन्दित है इससे सद्धर्ममयी गीता समस्त ज्ञानों में प्रवृत्त करनेवाली है ॥ १९ ॥

सर्वशास्त्रमयी यस्मात्तस्माद् गीता विशिष्यते ।
योऽधीते नित्यगीतां च दिवारात्रौ यथार्थतः ॥ २० ॥
स्वपञ्जाग्रच्चलंस्तिष्ठञ्छाश्वतं मोक्षमाप्नुयात् ।

सर्व शास्त्रमयी गीता होनेके कारण समस्त शास्त्रों से श्रेष्ठ है । जो पुरुष अहर्निश यथातथ्य सोते जागते चलते खड़े भी नित्य गीता को पढ़ते हैं वह अवश्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

शालग्रामशिलायां तु देवागारे शिवालये ॥ २१ ॥
तीर्थे नद्यां पठेद्यस्तु वैकुण्ठं याति निश्चितम् ।
देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ॥ २२ ॥
यथा न वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ।
गीताधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ॥ २३ ॥

विष्णु के सन्मुख देवमान्दिर में, शिवालय में, तीर्थ में, नदी के तटपर, जो गीता का पाठ करता है वह अवश्य मोक्ष को पाता है। जैसे देवकीनन्दन श्रीकृष्ण गीता पाठ से अति प्रसन्न होते हैं ॥ २१ ॥ ॥२२॥ वैसे वेदपाठ, दान, यज्ञ, तीर्थ, स्नान, व्रतादि से नहीं संतुष्ट होते । जिसने भक्ति भावयुक्त गीता को पढ़ा है ॥ २३ ॥

तेन वेदाश्च शास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः।
योगिस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च ॥ २४ ॥

उसने मानों समस्त वेद शास्त्र और पुराण पढ़ चुका, इस गीता को योगियों के स्थान में, सिद्ध पाठ में, श्रेष्ठजनों के सन्मुख साधु सभा में ॥ २४ ॥

यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन्याति परां गतिम्।
गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने ॥ २५ ॥

यज्ञ में, वैष्णव के सन्मुख पाठ करने से मोक्ष प्राप्त होता है जो पुरुष गीता का पाठ, गीता का श्रवण नित्यही करते हैं ॥२५॥

क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः।
यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयत्येव यः पुमान् ॥
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥२६॥

उन पुरुषों ने सदक्षिणा अश्वमेधादिक मानों यज्ञ किया। जो गीतार्थ को भक्तियुक्त सुनता सुनाता है वह पुरुष परमपद को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

गीतायाः पुस्तकं नित्यं योऽर्चयत्येव सादरम्।
विधिना भक्तिभावेन तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ २७ ॥

जो आदर पूर्वक विधियुक्त भक्ति भाव से नित्य गीता पुस्तक का पूजन करते हैं उनके पुण्य को सुनो ॥ २७ ॥

सकला भूः कृता तेन यज्ञस्तंभवती किल।
कृतानि सर्वतीर्थानि दानानि च बहून्यपि ॥२८॥

उसने मानों समस्त पृथ्वी दान किया, समस्त यज्ञ किया, समस्त तीर्थ पर्यटन किया, बहु दान दिया ॥२८॥

भूतप्रेतपिशाचाद्यास्तत्र न प्रविशन्ति वै ॥ २९ ॥
अभिचारोद्भवं दुःखं परेणापि कृतं च यत्।

नोपसर्पंति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥ ३० ॥

जिसके घर में नित्य गीता का पूजन होता है उसके यहाँ भूत, प्रेत, पिशाचादि नहीं प्रवेश करते और दूसरे के किये हुए मंत्र, यंत्र, तंत्र द्वारा अभिचार और दुःख नहीं आते हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिभयं क्वचित् ।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिर्नारकी न च ॥३१॥
देहोर्मयः षडेते वै न बाधन्ते कदा च न ॥ ३२ ॥

तीनों ताप (दैहिक-दैविक-भौतिक) और अनेक भाँतिकी व्याधि, भय, शाप, पाप, नरक की दुर्गति कदापि नहीं होती है ॥ देहस्थित छहों शत्रु (पाँच ज्ञानेन्द्रिय और छठा मन) भी नहीं पीड़ा करते हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

भगवत्परमेशाने भक्तिरव्यभिचारिणी ।
जायते सततं तत्र यत्र गीताभिवन्दनम् ॥३३॥

जहाँ नित्यही गीतार्थ का अभिवादन होता है वहाँ ही भगवान में उत्तमोत्तम अखण्ड भक्ति उत्पन्न होती है ॥ ३३ ॥

प्रारब्धं भुञ्जमानोपि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ ३४ ॥

जो पुरुष गीताभ्यास करते हुये प्रारब्ध वश संसारिक भोग भोगता है तो भी वह मुक्त और सुखी है वह कर्म से बँधनहींसक्ता॥ ३४॥

महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत् ।
न किञ्चित्स्पृशते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥३५॥

यदि गीताध्याई पुरुष से किसी कारण वश महापापादि पाप भी होजाय तो कमलपत्रवत् पाप उसको स्पर्श नहीं कर सक्ते॥ ३५॥

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादि कृतं च यत् ।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पृश्यस्पर्शजं तथा ॥३६॥

ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिंद्रियैर्जनितं च यत्।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥ ३७ ॥

जो अनाचार से, निन्दित भाषण से, अभक्ष्य भक्षण से, अस्पृश्यस्पर्शसे, जो ज्ञान से, नित्य इन्द्रियों द्वारा जो पाप होते हैं वह समस्त केवल गीता पाठ से नाश हो जाते हैं ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

सर्वत्र प्रतिभुक्त्वा च प्रतिगृह्य च सर्वशः।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥ ३८ ॥

सर्वत्र भोजन करने का, दानादान लेने का पाप गीता पाठ से नाश हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्य विधानतः।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धः स्फटिकवत्सदा ॥ ३९ ॥

विधियुक्तरत्नगर्भापृथ्वी के दान लेने का भी दोष एक गीता पाठ से नाश हो जाता है ॥ ३९ ॥

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा।
सर्वाग्निकः सदा जापी क्रियावान्स च पण्डितः ॥ ४० ॥
दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि।
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥ ४१ ॥

जिसके अन्तःकरण में गीताऽध्ययन रमता है वही अग्निहोत्री वही जापी, वही क्रियावान, वही पण्डित है, और वही दर्शनीय धनवान, योगी, ज्ञानवान, याज्ञी सर्ववेदार्थदर्शक भी है ॥४०॥४१॥

गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥ ४२ ॥
निवसन्ति सदा देहे देहशेषेपि सर्वदा।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ॥ ४३ ॥

जहाँ पर गीता का पुस्तक नित्य पाठ में प्रवृत्त हो तहाँ ही

प्रयागादि तीर्थ, देवता, ऋषि, योगी, पन्नग सदैव इसलोक और परलोक में वास करते हैं ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

गोपालबालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः ।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्त्तते ॥ ४४ ॥

जहाँ पर गीता पुस्तक होवे वहीं पर नारद ध्रुवादि पार्षदों के सहित गोपाल बालकृष्ण निरन्तर सहायक रहते हैं ॥ ४४ ॥

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा ।
तत्राहं निश्चितं पार्थ निवसामि सदैव हि ॥ ४५ ॥

हे पार्थ ! जहाँ पर गीता का विचाराविचार, पठन पाठन होता है वहाँ पर मैं सदैव वास करता हूँ ॥ ४५ ॥

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥ ४६ ॥

हे पार्थ ! गीता मेरा हृदय, गीताही उत्तम मेरा सार, गीताही मेरा अग्रज्ञान और गीताही मेरा अक्षयज्ञान भी है ॥ ४६ ॥

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥ ४७ ॥

गीताही मेरा उत्तम स्थान, गीताही मेरा परम पद, गीताही मेरा परम गुह्य और गीताही मेरा परम गुरु है ॥ ४७ ॥

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन ! मेरा गीताही उत्तम स्थान और परम गृह है कि जिसको धारण करके मैं त्रिलोकी का पालन करता हूँ ॥ ४८ ॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्धमात्राक्षरा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ४९ ॥

निस्सन्देह हे पार्थ ! गीताही मेरी परमाविद्या और ब्रह्मरूपा है अर्द्धमात्रा, नाश रहित, सनातन, अनिर्वाच्य पद रूप मेरी गीता है ॥ ४९ ॥

गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव ॥
कीर्त्तनात्सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥ ५० ॥

हे पांडव! गीता के गुप्त नाम मैं तुमसे वर्णन करता हूँ कि जिसके कीर्तन से समस्त पाप क्षय हो जाते हैं ॥ ५० ॥

गीता गङ्गा च गायत्री सीता सत्या पतिव्रता ॥
ब्रह्मवल्ली ब्रह्मविद्या त्रिसंध्या मुक्तिगेहिनी ॥ ५१ ॥
अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी ॥
वेदत्रयी परानन्ता तत्त्वार्था ज्ञानमञ्जरी ॥ ५२ ॥

१ गीता, २ गंगा, ३ गायत्री, ४ सीता, ५ सत्या, ६ सरस्वती, ७ ब्रह्मविद्या, ८ ब्रह्मवल्ली ९ त्रिसंध्या, १० मुक्तगेहनी, ११ अर्द्ध मात्रा, १२ चिदानन्दा, १३ भवघ्नी, १४ भयनाशिनी, १५ वेदत्रयी, १६ परा १७ अनन्ता, तत्वार्था १८ ज्ञानमंजरी ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ॥
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथान्ते परमं पदम् ॥ ५३ ॥

उक्त अठारह नाम गीता के स्थिर भक्ति भाव से जो कोई जपता रहे उसको शीघ्र ही ज्ञान सिद्धि प्राप्त होती है और अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ५३

पाठेऽसमर्थः संपूर्णे तदर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५४ ॥

यदि पूर्ण गीता का पाठ न करसके तो आधा गीता के पाठ से एक गोदान का फल निस्सन्देह प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥
षडंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ॥ ५५ ॥

तीन भाग (छः अध्याय) के पाठ करने से सोमयज्ञ और छठे भाग (तीन अध्याय) के पाठ से गंगा स्नान का फल प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

तथाध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम् ॥
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद् ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

नित्यही दो अध्याय के पाठ करने से इन्द्रलोक में प्राप्त होकर एक कल्पपर्यन्त वास करता है ॥ ५६ ॥

एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ॥
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ ५७ ॥

भक्ति युक्त एक अध्याय के नित्य पाठ करने से रुद्रलोक में प्राप्त होता है और शंकर का गण होकर बहुकाल पर्यन्त वास करता है ॥ ५७ ॥

अध्यायार्द्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः ।
समेति रविलोकं च मन्वन्तरसमाशतम् ॥ ५८ ॥

अर्द्ध अध्याय के पाठ से या इसके किसी हिस्से के नित्य पाठ से सौ मन्वन्तर तक सूर्यलोक में वास करता है ॥ ५८ ॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् ॥
त्रिद्वयेकमेकमर्द्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ॥
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं तथा ॥ ५९ ॥

जो गीता के दश श्लोक सात पाँच चार तीन दो एक अथवा आधे श्लोक का भी नित्यही पाठ करते हैं तो वह दशकोटि वर्ष चन्द्रलोक में वास करते हैं ॥ ५९ ॥

गीतार्थमेकपादं च श्लोकमध्यायमेव च ॥
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥ ६० ॥

गीता के अर्थ को करते हुए या स्मरण करते हुए जो जन शरीर को त्यागता है वह परमपद को निस्सन्देह प्राप्त होता है ।६०।

गीतार्थं वापि पाठं वा शृणुयादन्तकालतः ॥
महापातकयुक्तोपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥ ६१ ॥

गीता के अर्थ को पढ़ते या सुनते हुए देह त्याग करे तो महापापी भी मुक्त हो जावे ॥६१ ॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः ॥
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ६ ॥

जो पुरुष गीता पुस्तक को धारण किये मृत्यु को प्राप्त होवे वह अवश्य विष्णुलोक में जाकर भगवान के साथ आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥६३॥

यदि मृत्यु समय एक भी अध्याय गीता पाठ होवे तो पुनः मानुषी जन्म लेकर गीता अभ्यास से मुक्त हो जाता है ॥ ६३ ॥

गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठे प्रकीर्तितम् ॥ ६४ ॥
तत्तत्कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात् ॥६५॥

यदि मरण समय गीता इस नाम का उच्चारण करे तो भी मुक्त होवे और जो समस्त कार्य में गीता पाठ करके कर्म करे उससे भी सम्पूर्ण फल प्राप्त होवे ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

पितृनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति वै ॥
सन्तुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यांति स्वर्गतिम् ॥६६॥

पितृ श्राद्ध में जो कोई गीता पाठ करके श्राद्ध करे तो पितर प्रसन्न होकर नर्क से स्वर्ग को चले जाते हैं ॥ ६६ ॥

गीतापाठेन सन्तुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥६७॥

गीता पाठ से संतुष्ट पितर पुत्र को आशीर्वाद देते हुए पितृ लोक को चले जाते हैं ॥ ६७ ॥

गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम् ॥
कृत्वा च तद्दिने सम्यक् कृतार्थो जायते जनः ॥६८॥

श्रीगीता पुस्तक को गौ की पुच्छ युक्त दान करने से मनुष्य कृतार्थ हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः शुद्धमानसः ॥
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवः ॥ ६९ ॥

सुवर्ण युक्त गीता पुस्तक को श्रेष्ठ ब्राह्मण को दान देने से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ६९ ॥

शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः ॥
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्ल्लभम् ॥ ७० ॥

एकसौ पुस्तक गीता दान करने से पुरुष ब्रह्मलोक गामी होता है ॥ ७० ॥

गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पावधिंसमाः ॥
विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ७१ ॥

श्रीगीता दान के प्रभाव से मनुष्य विष्णुलोक में जाकर भगवान के साथ आनन्दित होता है ॥ ७१ ॥

सम्यक् श्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ॥
तस्मै प्रीतो हि भगवान् ददाति मनसेप्सितम् ॥ ७२ ॥

जो कोई गीतार्थ को सुनकर पुस्तक को दान कर देता है उसपर भगवान प्रसन्न होकर मनोभिलाषित वर देते हैं ॥ ७२ ॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्णेषु भारत ॥
न शृणोति न पठति गीताममृतरूपिणीम् ॥ ७३ ॥
हस्तात्त्यक्त्वामृतं प्राप्तं कष्टात् क्ष्वेडं समश्नुते ॥
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा मोक्षं सुखी भवेत् ॥७४॥

चारों वर्णों में मनुष्य देह धारण करके अमृतरूपी गीता पाठ को जिसने न सुना और न पढ़ा उसने हाथ में आये हुये अमृत को छोड़कर विष पान किया इसलिये समस्त पुरुषों को उचित है कि इस उत्तम गीता रूपी अमृत को पान करके सुखी होवें ॥७३॥७४॥

जनः संसारदुःखार्तैर्गीताज्ञानं च यः श्रुतम् ॥
संप्राप्तममृतं तैश्च गतास्ते सदनं हरेः ॥ ७५ ॥

संसारी दुःख से दुःखी जन गीता रूपी अमृत को पान करके विष्णु स्थान को प्राप्त होते हैं ॥

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजा जनकादयः ॥
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥ ७६ ॥

श्री गीता का आश्रय लेकर बहुत से जनकादिक राजा निष्पाप होकर परमपद को गये हैं ॥ ७६ ॥

गीतासु न विशेषोस्ति जनेषूच्चावचेषु च ॥
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७७ ॥

श्री गीता में नीच ऊँच का कुछ भी विचार नहीं है आत्मा सब में है इसमे यह ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७७ ॥

योभ्यसूयति गीतां च यो निन्दां वा करोति च ॥
समेति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ७८ ॥

जो कोई गीता की निन्दा करता है वह प्रलय पर्यन्त घोर नर्क में रहता है ॥ ७८ ॥

अहङ्कारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ॥
कुम्भीपाकेषु पच्येत यावत्कल्पक्षयो भवेत् ॥ ७९ ॥

जो कोई मूढता वश गीतार्थ का नहीं मानते वह कल्पपर्यन्त कुंभीपाक नरक मे दुःखी होते हैं ॥ ७९ ॥

गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ।
श्वानशूकरभवां योनिमनेकां सोऽधिगच्छति ॥ ८० ॥

जो पुरुष गीतार्थ को नहीं सुनता वह कुत्ता और शूकर के अनेक जन्म पाता है ॥ ८० ॥

चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ॥
न तस्मै च फलं किंचित् पठनाच्च वृथा भवेत् ॥ ८१ ॥

जो पुरुष गीता पुस्तक को चुराकर पाठ करता है उसको पाठ का फल नहीं मिलता है ॥ ८१ ॥

यः श्रुत्वा नव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ॥

नैवाप्नोति फलं लोके प्रमादाच्च वृथा श्रमः ॥ ८२ ॥

जो पुरुष गीतार्थ को सुनकर प्रसन्न नहीं होता उसका सुनना ही वृथा है ॥ ८२ ॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च पट्टांबर प्रवेष्टनम् ॥
निवेदयेत्तत्र तद्विप्रे प्रीतये परमात्मनः ॥ ८३ ॥

गीता को सुनकर रेशमी वस्त्र युक्त सुवर्ण समेत पुस्तक को ईश्वरार्पण दान देना चाहिये ॥ ८३ ॥

वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ॥
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान् हरिः ॥ ८४ ॥

वक्ता को भक्तिभाव युक्त द्रव्य वस्त्रादि उत्तम उपस्कारों से पूजन करना चाहिये उसपर भगवान प्रसन्न होते हैं ॥ ८४ ॥

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ।
गीतान्तु पठते यस्तु यथोक्तं फलभाग्भवेत् ॥ ८५ ॥

यह गीता माहात्म्य श्रीकृष्ण ने कहा है इसको गीता पाठ के अन्त में कहना चाहिये ॥ ८५ ॥

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ॥
वृथा पाठफलं तस्य श्रमएव ह्युदाहृतः ॥ ८६ ॥

जो कोई गीता पाठ करके माहात्म्य को नहीं पढ़ता उसका पाठ वृथा हो जाता है ॥ ८६ ॥

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ॥
श्रद्धया यः शृणोत्येव दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥ ८७ ॥

इस माहात्म्य युक्त गीता का जो पुरुष पाठ करता है अथवा श्रद्धा से सुनता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥

श्रुत्वा पठित्वा गीतां च माहात्म्यं यः शृणोति च ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेद्वै मनसेप्सितम् ॥ ८८ ॥

जो गीता को सुनके और गीता पाठ करके माहात्म्य को पढ़ते सुनते हैं उनको मनोभिलषित फल प्राप्त होता है

इति श्रीभगवद्गीता माहात्म्य भाषा टीका समाप्तम् ॥

* ॐ *

अथ करन्यासः

ॐ अस्य श्री भगवद्गीता मालामंत्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः ॥ अनुष्टुप्छन्दः ॥ श्रीकृष्णः परमात्मा देवता ॥ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसेति बीजम् ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकंशरणंव्रजेति शक्तिः ॥ अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः इति कीलकम् ॥ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनंदहति पावकः इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः ॥ नचैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः इति तर्जनीभ्यां नमः ॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एवचेति मध्यमाभ्यां नमः ॥ नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः इत्यनामिकाभ्यां नमः ॥ पश्यमेपार्थरूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥ नाना विधानि दिव्यानि नाना वर्णाकृतीनि चेति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ॥ इति करन्यासः ॥

* अथ हृदयादिन्यासः *

नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः इति हृदयाय नमः ॥ न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः इति शिरसे स्वाहा ॥ अच्छेद्योऽयमदाह्यो यमक्लेद्यो शोष्य एव चेति शिखायै वषट् ॥ नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः इति कवचायहुम् ॥ पश्यमेपार्थरूपाणि शतशोथ सहस्रशः इति नेत्रत्रयाय वौषट् ॥ नाना विधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनिचेत्यस्त्रायफट् ॥ श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थे पाठ विनियोगः ॥

* इति हृदयादिन्यासः *
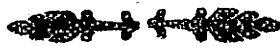
* अथ ध्यानम् *

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ॥ अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमंबत्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥१॥ नमोऽस्तुते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविंदायतपत्रनेत्र ॥ येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥ प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैक पाणये ॥ ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३ ॥ सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ॥ पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ४ ॥ वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ॥ देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥ भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गांधारनीलोत्पला शल्यग्राहवती कृपेणवहनी कर्णेन वेलाकुला ॥ अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी सोत्तीर्णा खलु पांडवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ ६ ॥ पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगंधोत्कटं नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम् ॥ लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा भूयाद्भारतपंकजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ ७ ॥ मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् ॥ यत्कृपा तमहं वंदे परमानंदमाधवम् ॥ ८ ॥ यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैस्तवैर्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥ ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यंति यं योगिनो यस्यांतं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ ९ ॥

* इति ध्यानम् *

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता प्रारम्भः

* भाषा टीका समलंकृतः *

* धृतराष्ट्र उवाच *

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १॥

दोहा-धर्मक्षेत्र सुखेत कुरु, जुरे युद्ध की चाह ।
मेरे सुत अरु पाण्डुके, कहौ करत हैं काह ॥ १ ॥

टीका-जिस समय कौरव और पाण्डव संग्राम में उद्यत हुये उसी समय हस्तिनापुर में महाराज धृतराष्ट्र ने सञ्जय प्रति पूछा कि-हे संजय ! धर्मक्षेत्र (कुरुक्षेत्र) में युद्ध की इच्छा से एकत्र मेरे और पाण्डु पुत्र क्या कर रहे हैं ॥ १ ॥

॥ संजय उवाच ॥

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ॥
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

दोहा-पाण्डु तनयके बल निरखि, बन्यो व्यूह अति भाय ।
दुर्योधन नृप कहत भे, आचारज पहँ जाय ॥ २ ॥

टीका-धृतराष्ट्र के यह बचन सुनकर संजय ने कहा कि महाराज दुर्योधन पाण्डवों की सेना को देखकर द्रोणाचार्य के निकट आयकर कहा कि ॥ २ ॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

सोरठा-आचारज अतिमान, यह देखौ पाण्डव चमू ।
जो तुव शिष्य सुजान, रच्यो व्यूह सुत द्रुपद के ॥३॥

टीका—हे गुरु ! यह आपका शिष्य अति बुद्धिमान धृष्टद्युम्न ने कैसी उत्तमता से व्यूह रचना करके पाण्डवों की सेना को स्थापित किया है ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

दोहा-सूर धनुर्धारी सबै, पारथ भीम समान ।
द्रुपद महारथ और पुनि, हैं विराट युयुधान ॥ ४ ॥

टीका—उस सेना में अर्जुन, भीमसेन के तुल्य बड़े २ शूरवीर युयुधान और राजा विराट व राजा द्रुपद महारथी हैं ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

दोहा-धृष्टकेतु अरु काशिपति, चेकितान बलवान ।
कुन्ति भोज अस सैव्य पुनि, पुरजित शत्रु बखान ॥५॥

टीका—हे आचार्य ! उधर धृष्टकेतु, चेकितान, काशीनरेश, राजा पुरजित, कुन्तिभोज, राजा शैब्यादिक वीर शिरोमणि विराजमान हैं ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

दोहा-युधामन्यु अतिबली, उत्तमौज बलवान ।
द्रुपद सुवन अभिमन्यु अति, महारथी जगजान ॥ ६ ॥

टीका—अति पराक्रमी युधामन्यु और अभिमन्यु, उत्तमौजा पांचो द्रोपदी के बिन्ध्यादिक पुत्र महारणधीर उधर स्थित हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

दोहा-मम सेना में अधिक बल, तिन्हैं सुनो द्विजराज ।

नीके जानों तुम तिन्हैं, खड़े युद्ध के काज ॥ ७ ॥

टीका-हे द्विजराज ! निज सेनाके शूर वीरों के नाम सुनिये ७

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैवच॥८॥

दोहा--तुम अरु भीषण करण कृप, जिन जीत्यो संग्राम ।
अश्वत्थामा विकर्ण नृप, सौमदत्त बलधाम ॥ ८ ॥

टीका-मेरे तरफ आप और भीष्म कर्ण कृपाचार्य, अश्वत्थामा कर्ण, सोमदत्त, भूरिश्रवादि संग्राम वेत्ता हैं ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ॥
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९ ॥

दोहा--और बहुत हैं वीर नृप, ममहित छाड़े प्रान ।
अस्त्र शस्त्र नेकन गहे, युद्ध निपुण बलवान ॥ ६ ॥

टीका-मेरी सेना में बहुत से सूर वीर शस्त्र लिये कि जो मेरे लिए निज प्राणों को भी छोड़ने को तैयार हैं ऐसे २ युद्ध विशारद संग्राम में स्थित हैं ॥ ६ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

दोहा--भीषम रक्षित मोर बल, परिपूरण न लखाय ॥
भीम सुरक्षित ताखु बल, पूरण तेज जनाय ॥ १० ॥

टीका-उभय पक्षपाती भीष्मपितामह करके रक्षित शत्रुदल पूर्ण मालूम होता है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ॥
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

दोहा--आस पास मम व्यूह के, यथा भाग करि थान ।
सब विधि मिलि रक्षा करौं, भीषम तेज निधान ॥ ११ ॥

टीका-आप लोग व्यूह के उचित स्थानों में स्थित होकर भीष्मही की रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः संखं दध्मौ प्रतापवान् १२

दोहा--यहि अन्तर गंगा तनय, दुर्योधन मुद देन ।
गर्जि सिंहवत स्वर कियो, शंख बजायो सेन ॥ १२ ॥

टीका-श्री भीष्मपितामह जो दुर्योधन को आनन्द देते हुये सिंह की तरह गर्ज करके शंख को बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

दोहा--शंख भेरि आनक पणव, गोमुख हने निशान ॥
तेहि क्षण सब बाजत भये, शब्द छयो असमान ॥१३॥

टीका-शंख, भेरी, पणव, गोमुख आदि बाजे बजाये गये कि जिनका शब्द दिगन्त में छागया ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ॥
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

दोहा--श्वेत बाजियुत सुभग रथ, बैठे दोउ बल बीर ॥
शंख बजावत भे रुचिर, माधव पांडव धीर ॥ १४ ॥

टीका-श्वेत वर्ण के घोड़ों से युक्त रथ में श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन बैठकर दिव्य शंख को बजाते भये ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ॥
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

दोहा--पांचजन्य गोपालजी, देवदत्त सुत शक्र ॥
पौण्ड्र बजायो शंखवर, भीम भयानक वक्र ॥ १५ ॥

टीका-श्रीकृष्ण पाञ्चजन्य, अर्जुन देवदत्त नामक शंख, भीमसेन पौण्ड्रक शंख को बजाते भये ॥ १५ ॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

दोहा–नाम अनन्त विजय अति, कुन्तीसुत नरदेव ॥
नकुल सुघोषक नाम है, मणिपुष्पक सहदेव ॥ १६ ॥

टीका-श्रीनरदेव युधिष्ठिरजी अनंतविजय शंख को, नकुल सहदेव सुघोषक और मणिपुष्पक शंख को बजाते भये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडीच महारथः ॥
धृष्टद्युम्नो विराटश्चसात्यकिश्चापराजितः१७

दोहा–महा धनुर्धर काशिपति, रथी शिखण्डी जानि ॥
धृष्टद्युम्न बिराट पुनि, बली सात्यकिहि मानि ॥ १७ ॥

टीका–और काशिराज, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट अपराजित सात्यकी ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ॥
सौभद्रश्च महाबाहुःशंखान्दध्मुःपृथक्पृथक्॥१८॥

दोहा–द्रुपद द्रौपदी सुत सबै, और सुभद्रा पूत ॥
भिन्न भिन्न निज शंख लै, ध्वनि कीन्ही तासूत ॥ १८ ॥

टीका–राजा द्रुपद और द्रौपदी के पांचों पुत्र महाबाहु अभिमन्यु निज २ शंखों को लेकर शब्द करने लगे ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

दो०–सो रव गत लोचन सुतनि, हृदय कंप अति देत ॥
नभ धरणी ते भरि रह्यो, सुनि सब भये अचेत ॥१९॥

टीका– उन शंखों के अति भारी शब्दने आकाश और पृथ्वी में

फैलकर धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादिकों के हृदय को विदीर्ण किया।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः॥ २०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुनउवाच।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥

दोहा—देखे सुत धृतराष्ट्र के, अर्जुन धनुष संभारि॥
कपिवर ताकी ध्वज लसे, शस्त्रनि धरत निहारि॥२०॥
हृषीकेश प्रति कहत भे, यह वर वचन महीश॥
उभय सेन के मध्य में, रथ राखौ जगदीश॥ २१॥

टीका—हे राजन्! अर्जुन ने कौरवों को सन्मुख खड़े हुये देख कर धनुष को उठाय श्रीकृष्ण से कहा कि हे अच्युत? दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को खड़ा करो॥ २०॥ २१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ २२॥

दोहा—जब लगि मैं देखौं नहीं, खड़े युद्ध के दाइ
कौन कौन सों हौं लरौं, या रण में समपाइ॥ २२॥

टीका—कि जिससे संग्राम भूमि में खड़े हुय योद्धाओं को मैं देखूँ कि किन किन से मुझे युद्धकरना है॥ २२॥

यात्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः॥

धार्तराष्ट्रस्यदुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

दो०—युद्ध काम नृप देखि हौं, जो आये मतिहीन।
दुर्योधन दुर्बुद्धि के, चाहत हैं प्रियकीन॥ २३॥

टीका—दुर्बुद्धि दुर्योधन की प्रीति करनेवाले मतिहीन राजाओं को मैं देखूँगा॥ २३॥

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

दो०—अर्जुन के यह बचन सुनि, हृषीकेश मतिधीर ॥
उभय सैन्य के मध्य में, रथ राख्यो बलबीर ॥ २४ ॥
भीषम द्रोणके संमुखहि, जेते सकल भूपाल ।
कह देखिय पारथ सकल, हन उत्सुक कुरुजाल ॥२५॥

टीका—सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे भारत ? अर्जुन के यह वचन सुनकर श्रीकृष्ण ने भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य आदि वीरों के सामने अर्जुन के रथ को खड़ा करके कहा कि हे पार्थ ! युद्ध के लिये उद्यत इन कौरवों को देखो ॥ २४ ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ॥
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।

दो०—अर्जुन ते देखे सबै, पिता पिता मह भाइ ॥
गुरु मामा भैया सखा, सुत नाती के दाइ ॥ २६ ॥

टीका-अर्जुन ने परदल में निज चाचा. बाबा गुरु, मामा, भाई पुत्र पौत्र, मित्रजन को शस्त्र लिये खड़े देखा ॥ २६ ॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥
तान्समीक्ष्यसकौन्तेयःसर्वान्बन्धूनवस्थितान् २७
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥

दो०—श्वशुर सुहृद बांधव सकल, दोऊ सेना मांह ॥
तिन्हैं देखि करुणा भई, तब बोले नरनांह ॥ २७ ॥

टीका—और श्वशुर, सुहृज्जन, बान्धवों को स्थित देखकर परम दया पूर्वक ग्लानि युक्त यह वचन कहा ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥२८॥

दोहा—देखे मैं सब बन्धु ये, कृष्ण युद्ध के दाय।
मो मुख सूखत जात है, अंग अंग शिथिलाय ॥ २८ ॥

टीका-अर्जुन बोले कि हे कृष्ण ! युद्ध के लिये उद्यत निज जनों को देखकर मेरे अंग अंग शिथिल हुए जाते हैं और मुख सूखा जाता है ॥ २८ ॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥
गांडीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥

दोहा—कंपहिं तन मम रोमगण, खड़े खड़े ह्वै जात ॥
धनु गांडीव गिरत अब, त्वचा दहत सबगात ॥२९॥

टीका-मेरा शरीर काँपता है, मेरे शरीर में रोमहर्ष हो आया, गाण्डीव (धन्वा) हाथ से गिरा जाता है मेरी त्वचा जली जाती है,

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥३०॥

दो०—रहि न सकौं यहि थल मनो, भ्रमत मोर मन मीत ॥
केशव शकुन न देखियत, कैसी है यह रीत ॥ ३० ॥

टीका-हे कृष्ण। मैं यहाँ खड़ा रहने को समर्थ नहीं हूँ मेरा मन भ्रम रहा है और मैं अशुभप्रद अशकुनों को देख रहा हूँ ॥ ३० ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण नच राज्यं सुखानि च॥३१॥

दो०—स्वजन हनत संग्राम में, देखौं नहिं कल्यान ॥
विजय न चाहौं कृष्णजू, नहिं चाहौं सुखमान ॥ ३१ ॥

टीका–संग्राम में स्वजनों को मारकर मैं कल्याण नहीं देखता हूँ-हे कृष्ण ! युद्ध में विजय और राज्य व सुख की मेरी इच्छा नहीं है ॥

किन्नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाःसुखानि च३२

दो०—वृथा भोग आनन्द जू, जीवन अरु सुख राज ॥
राज्य भोग आनन्द पुनि, करियत जिनके काज ॥३२॥

टीका-हे गोविंद ! हमको राज्य भोग तथा जीवनसे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि जिनके लियेराज्य भोग और सुखकी कामना की जाती है

तइमेवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥३३॥

दोहा—ते धन प्राण को त्यागि कै, आए सब संग्राम ॥
तात अचारज पुत्र अरु, पिता महा सुखधाम ॥ ३३ ॥

टीका-इस युद्ध में यह सब प्राण और धन की आसा को त्यागकर के मरने को खड़े हैं—हे मधुसूदन ! आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह ॥३३॥

मातुलाःश्वशुराः पौत्राःश्यालाःसंबंधिनस्तथा ॥
एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥३४॥

दो०—श्वशुर सार समधी सबै, मातुल नाति सहाय ॥
इन्हैं नहीं मारन चहौं, यह मारैं बरु आय ॥ ३४ ॥

टीका-मामा, श्वशुर, पौत्र, साले और सम्बन्धी यह सब मुझको मारैं तो भी हे कृष्ण ! मैं इन्हैं मारने की इच्छा नहीं करता हूँ ॥ ३४ ॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोःकिंनुमहीकृते ॥
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नःका प्रीतिःस्याज्जनार्दन३५

दो०—लहौं त्रिलोकी राज जौं, धरनिराज किमि होहि ॥
हते तनय धृतराष्ट्रके, कौन लाभ मोहिं होहि ॥ ३५ ॥

टीका-हे जनार्दन ! मैं इन्हें त्रैलोक्य के राज्य के लिये तो मारही नहीं सक्ता हूँ तो फिर पृथ्वी के राज्य के लिये क्या मारूंगा कारण कि धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर मुझे क्या प्रसन्नता होगी ३५

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥
तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्त्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ॥
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनःस्याम माधव ॥ ३६ ॥

दो०—किन्तु पाप मोहि लेइ हैं, यद्यपि लिये हथ्यार ॥
ताते इनको हननको, नहिं समर्थ हम यार ॥ ३६ ॥

टीका-इन अताताइयों के मारने से मुझको पापही मिलेगा, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिये हमलोग योग्य नहीं हैं। हे माधव ! स्वजनों को मार कर हम कैसे सुखी होंगे ॥ ३६ ॥

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३७ ॥

दोहा—यद्यपि यह नहिं लखत है, लोभ ग्रसे है चेत ॥
कुल विनाश कृत दोष बड़, मित्र द्रोह अघजेत ॥ ३७ ॥

टीका—यदि यह लोभवश कुलक्षय कृत दोष और मित्र द्रोह कृत दोष को नहीं देखते ॥ ३७ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ॥
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३८ ॥

दो०—मैं नहिं जानौं कसन यह, पाप कर्म को त्याग ॥
कुल विनाश कृत दोष बहु, जानि सहित अनुराग ॥ ३८ ॥

टीका—हे जनार्दन ! कुलक्षय के दोषों को जाननेवाले हम को इस पातक से निवृत्त होना कैसे नहीं जानना चाहिये ॥ ३८ ॥

कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

दोहा—कुल विनाशते लगत हैं, कुलके धर्म पुरान।
धर्म गये वह कुल सकल ग्रसै अधर्म अयान ॥३९॥

टीका—कुलक्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नाश हो जाता है धर्म के नाश होनेसे अधर्म छा जाता है ॥ ३९ ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः ॥
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४०॥

दोहा—कृष्ण अधर्महि के बढ़े, दुषित होहिं कुलनारि ॥
होइ वर्णसंकर तबहिं, स्त्रियाँ दोष निरधारि ॥ ४० ॥

टीका—हे कृष्ण ! अधर्म होनेसे कुलस्त्रियां व्यभिचारिणी हो जाती हैं और उनसे वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है ॥ ४० ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥४१॥

दो०—कुल नाशक कुलके नरक, संकर करै मुरारि ॥
परै नरक तिनके पितर, बिना पिण्ड बिन वारि ॥४१॥

टीका-वह वर्णसंकर कुलक्षय करने वाले को और उसके कुलको नरक पहुँचाता है क्योंकि पिण्डदान और तर्पण के लुप्त होने से पितर नरक में पड़ते हैं ॥ ४१ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४२॥

दोहा—कुलहि बरन संकर भए, डारत दोष बड़ाइ ॥
जाति धर्म कुल धर्म ते, तेई देत नशाइ ॥ ४२ ॥

टीका-वर्णसंकर करनेवाले इन दोषों करके कुलघ्न पुरुषोंके जाति

धर्म और कुलधर्म निस्सन्देह नष्ट होते हैं ॥ ४२ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४३ ॥

दोहा—नष्ट भये कुल धर्म सब, जिनके धरणी पाल ॥
सो नर नर्क बसैं नियत, अनमम सुन्यो दयाल ॥४२॥

टीका-हे जनार्दन ! मैंनें सुना है कि कुल धर्म नष्ट होने से निरन्तर नर्क में बास करना होता है ॥ ४३ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ॥
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥

दोहा—बड़े पापके करन को, निश्चय कियो बिचार ॥
चितमें आनो राजसुख, हनि कुटुम्ब निरधार ॥ ४४ ॥

टीका-अहा ! ! ! मैं बड़ा पाप करने को उद्यत हूं जो राज्य सुख के लिये स्वजनों के मारने को उद्योग कर रहा हूँ ॥ ४४ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ॥
धार्तराष्ट्रान् रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४५ ॥

दोहा--बिना जतन बिन अस्त्र लहि, यह सब गहि धनु बान ।
मो मारैं रण-भूमि में, तब अपनो भल जान ॥ ४५ ॥

टीका-शस्त्र लिये धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि अशस्त्र रणमें मुझे मारें तो मेरा बहुतही कुशल होवै ॥ ४८ ॥

॥ संजय उवाच ॥

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ॥
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६॥

इति श्रीमद्भ० सूपनि० ब्रह्म० श्रीकृष्णार्जुन सं० विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दोहा—अस कहि अर्जुन समर महँ, रथ समीप अलगाय।
बैठि रहे तजि चाप सर, शोक न हृदय समाय॥ ४६॥

टीका—यह कह अर्जुन तत्काल धनुषबाण डालकर शोकग्रसित-हृदय से रथ के पिछाड़ी भाग में जा बैठते भये।

इति श्री पं० महाराज दीन दीक्षित कृत भाषा व्याख्यायां श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

॥ संजय उवाच ॥

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदंतमिदं वाक्य मुवाच मधुसूदनः॥ १॥

दोहा-ले उसास अँसुवा भरे, अर्जुन करुणा भाय॥
बहु विषाद संयुक्त लखि, बोले श्री यदुराय॥१॥

टीका श्रीसंजय बोले कि इस भाँति अत्यन्त दयायुक्त आँसुओं से पूर्ण अर्जुन प्रति श्रीकृष्णचन्द्र बोले कि—॥ १॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

दोहा-अर्जुन कस तव हिय भयो, दुख लागे संग्राम॥
जेहि निन्दै सब गुरुजन, नरक अयश को धाम॥

टीका-हे अर्जुन! अनार्य जनों से सेवित कीर्तिनाशक स्वर्ग न पहुँचानेवाला यह मोहरूपी दुःख ऐसे अनवसर में तुमको कहाँ से प्राप्त हुआ॥ २॥

क्लैब्य मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते॥
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

दोहा—पार्थ नपुंसक होहु जनि, उचित न तुमरो होय ॥
उठौ परंतप क्षुद्रतर, हिय कदराई खोय ॥ ३ ॥

टीका-हे पार्थ ! यह कायरता आप के योग्य नहीं है आप इस हृदय दौर्बल्य का त्यागकर युद्ध के लिये खड़े हो ॥ ३ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ॥
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

दोहा—हरि जू इस संग्राम में, हैं भीष्म अरु द्रोन ॥
किमि बानन बेधित करौं, मोसों कहिये सोन ॥ ४ ॥

टीका-हे मधुसूदन ! मेरे पूजन करने योग्य भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य से युद्ध में बाणप्रहार द्वारा कैसे युद्ध करूंगा ॥४॥

गुरूनहत्वाहि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

दोहा—भीख मांगि बरु खाइये, गुरु हनिबो जु अनीति ॥
गुरुहि मारि भोगी करें, भषजि जु लोहू रीति ॥ ५ ॥

टीका—इस संसार में गुरुजनोंको न मारकर भिक्षा मांगकर खाना श्रेष्ठ है, अर्थ काम के लिये गुरुओं को मारकर रुधिर लिप्त भोग को भोगूँगा यह श्रेष्ठ नहीं है ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः संमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

दोहा—अहो जु हम नहिं जानहीं, हारि भली की जीति ॥
जिनहिं मारि हम ना जियें, ते ये ठाढ़े मीति ॥ ६ ॥

टीका—इस संग्राम में हम नहीं जानते हैं कि कौन दल जीतेगा दूसरे जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते हैं वहाँ धृतराष्ट्र के पुत्र सन्मुख खड़े हैं तो इनको मारकर जय मिलाही तो क्या वह भी निष्फल है ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ॥
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितंब्रूहितन्मेशिष्यस्तेऽहंशाधिमांत्वांप्रपन्नम्॥७॥
दोहा–धर्म मध्य मैं मूढ हौं, पूँछत कृष्ण स्वभाय।
शिष्य तुम्हारी शरण हौं, दीजै युक्ति बताय॥ ७॥

टीका–गुरुजनों को मारकर जीवन पाना ऐसी चिन्ता और कुलक्षय कृत दोष इन दोनों कारणों से मेरे शौर्यादि गुण नष्ट हो गये हैं जो कि रण छोड़ कर भीख माँगकर जीवन व्यतीत करना यह क्षत्रिय धर्म से बाहर है इस भाँति अनेक संदेह युक्त धर्म संकट में पड़ा मैं आप के शरण हूँ मुझे शिष्य जान जो उचित होवै कहिये ॥७॥

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्।
अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं राज्यंसुराणामपिचाधिपत्यम्॥ ८॥
दोहा–भूमि लोक सुरलोक को, लहै अकंटक राज।
इन्द्रिय सोखै हीय को, जाय न शोक समाज॥ ८॥

टीका–मैं पृथ्वी में निष्कंटक राज्य को प्राप्त होऊँ और देवताओं का अधिपति भी होऊँ परन्तु मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को जो दूर कर देवै इस उपाय को मैं नहीं देखता हूँ॥८॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप॥
न योत्स्यइतिगोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह॥९॥
दोहा–ऐसे कहि श्रीकृष्ण सों, गुड़ाकेश अति धीर।
मैं न लरौं गोविन्द जी, कहि अस चुप भे वीर॥ ९॥

टीका-सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि–हे परंतप! अर्जुन ने श्री कृष्ण से कहा कि "मैं युद्ध न करूंगा" यह कह कर चुप होगये॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत॥
सेनयोरु भयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः॥ १०॥

दोहा—उभय सैन्य के मध्य में, लखि अर्जुन को विषाद ॥
हँसि गोकुल पति तब कह्यो, निखिलसार मृदुबाद १०

टीका-हे भारत ! दोनों सेनाओं के मध्य में शोक युक्त उस अर्जुन से श्रीकृष्णचन्द्रजी हँसते हुए यह बचन बोले ॥ १० ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥११॥

दोहा—शोचहु वस्तु अशोत्र तुम, कहत ज्ञानकी बाद ॥
प्राण गतागत शोच नहिं, पंडित रहित विषाद ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! यह आपका कहना पण्डितों के तुल्य है परन्तु तुम पंडित नहीं हो ! क्योंकि पंडितजन नाशवान शरीर को जानकर कभी भी शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं नत्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

दोहा—अर्जुन तीनहु काल में, हम तुम ये नरपाल ॥
भये अहँहि पुनि होहिंगे, एक तन्तु सब काल ॥ १२ ॥

टीका-हे अर्जुन ! मैं, आप और यह बीर लोग इस शरीर के पहिले भी रहे हैं और अब होवेंगे अब इससे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरांश है शरीर नष्ट होने पर भी जीव का नाश नहीं होता ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ॥
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

दोहा-या देही में होत हैं, यौवन जरा कुमार ।
तिमि तन पर लहि धीर नहिं, पावहिं मोह अपार ॥१३॥

टीका-जैसे इस दह में कुमार, युवा, बृद्धा यह तीन अवस्था होती हैं ऐसेही दूसरी प्राप्त होने पर भी होवेंगी इससे इसमें

पण्डित जन मोह करते नहीं हैं ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ॥
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत१४

दोहा—शब्दादिक विषयन रमैं, सुख दुख ऊषण शीत।
लहै जनम पुनि मरन को, तन अनित्य यह मीत ॥१४॥

टीका-हे भारत! शब्दादि विषय, शीत, उष्ण आदि सुख दुःखों के देनेवाले हैं सो इनको अनित्य जान सभी को सहन करो ॥१४॥

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

दोहा—जिन्है न दुःख विषय कछु, नर पुंगव ते धीर।
दुख सुख लहि समचित रहैं, लहैं अमृतफल वीर १५

टीका-हे पुरुषर्षभ! जो पुरुष सुख दुःख को सम जानता है उसे यह पदार्थ क्लेश नहीं देते हैं वह मोक्ष को अवश्य प्राप्त होता है ॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽतस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

दोहा—जो है सो विनसै नहीं, जो विनसै सो नाहिं।
जो इन तत्त्वन को लखै, गनिये ज्ञानी माहिं ॥ १६ ॥

टीका—जो नाशवान् शीत, उष्ण, शरीर आदि हैं वह स्थिर नहीं हैं जो अविनाशी आत्मादिक हैं उनका नाश भी नहीं होता इसका सिद्धान्त पण्डितों ने भली भाँति करके देखा है ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति१७

दोहा—जाहि कर यह सब व्याप्त है, अविनाशी सो जान।
यह आत्मा निर्नाश है, कोउ नहिं नाशक मान ॥१७॥

टीका—जिस करके यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है उसको अविनाशी जानो कारण कि कोई पुरुष इस नाश रहित आत्मा का विनाश नहीं कर सक्ता है ॥ १७ ॥

अंतवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धयस्व भारत ॥१८॥

दोहा—नाशवन्त सब देह है, देही नित्य समान ।
नहिं प्रमाण नहिं नाश है, ताते लरो समान ॥ १८ ॥

टीका—हे अर्जुन ! आत्मा नित्य, सदैव एकरूप और अविनाशी है जिसका प्रमाण नहीं है उसीके यह देहादिक विनाशी कहे गये हैं इस कारण मोहको छोड़कर युद्ध करो ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥१९॥

दोहा—जो जाको हन्ता गनै, हन्यो गनत जो कोइ ।
नहिं यह मरै न मारही, अज्ञानी यह दोइ ॥ १९ ॥

टीका—हे अर्जुन ! जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है और जो इसको मरा भया समझता है वह दोनोंहीं यह नहीं जानते कि यह आत्मा न किसीको मारै न किसी करके मरै इसमें वह दोनोंही अज्ञानी हैं ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नयं भूत्वा भविता वा न भूयः ॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीर ॥१९॥

दोहा—आत्मा जन्मै मरै नहिं भयो न होवै वीर ।
अक्षय नित्य पुराण अज, मरै न मुवै शरीर ॥ २० ॥

टीका-यह आत्मा न कभी पैदा होता है न कभी मरता है और न उत्पन्न होकर वृद्धिको प्राप्त होती है न स्वभावसेही वृद्धि को प्राप्त होती है इस कारण अज और नित्य जिसकी उत्पत्ति नहीं और

सदैव एकरस सनातन है यह शरीर के नष्ट होने परभी आप नष्ट नहीं होती इसको षट् भाव विकार से रहित जानों ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ॥
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंतिकम् ॥ २१ ॥

दोहा–आतम नित्य अनाशि अज, अव्यय जो यहिवेद।
सो किमि मारै मरहि जग, पार्थ वाहि नहिं खेद ॥२१॥

टीका–जो कोई पुरुष इस आत्माको नित्य एक रूप होनेसे नाश रहित और अव्यय होनेसे जन्म रहित जानते हैं हे अर्जुन! वह पुरुष कैसे किसी को मरवाता है और कैसे किसी को मारता है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि ॥
तथाशरीराणिविहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानिदेही ॥२२॥

दोहा–ज्यों मानव नव गहत हैं, त्यागि बसन प्राचीन।
देह पुरानी जीव तजि, विग्रह गहै नवीन ॥ २२ ॥

टीका–जिस भाँति संसार में मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं उसी भाँति आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में जाता है इस कारण प्राचीन शरीर के छोड़ने में शोक करना व्यर्थ है ॥ २२ ॥

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
नचैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

दोहा–शस्त्र न याको काटही, पावक सकै न जारि।
जल नहिं याहि भिगोवही, सोखि न सकै बयारि ॥२३॥

टीका–इस आत्माको शस्त्रादि नहीं छेदन कर सक्ते, अग्नि इस आत्माको नहीं जलासक्ती, जल इस आत्माको नहीं भिगो-सक्ता, वायु इस आत्माको नहीं सुखा सक्ता ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्यएवच।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

दोहा—छेद्यो जार्यो जाय नहिं, भिजय सुखायो नाहिं ।
नित्य सनातन थिर अचल, व्यापि रह्योजगमाहिं २४

टीका-यह आत्मा निर अवयव होने से गलने व सूखने के योग्य नहीं है यह आत्मा नित्य अर्थात् त्रिकाल बाह्य सर्व जगत् में व्याप्त स्थिर अचल और सनातन है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

दोहा—है अचिन्त्य अव्यक्त यह, कहै इन्हैं अविकार ॥
ताते अर्जुन जानि अस, शोच न योग तुम्हार ॥ २५ ॥

टीका-यह आत्मा नेत्रादि ज्ञान की इन्द्रियों से अग्राह्य है और चिन्ता के योग्य भी नहीं है, कर्मेन्द्रियोंद्वारा अगोचर है यह तत्ववादी ऋषि लोग कहते हैं इस कारण उक्त भाँति आत्मा को जानकर तुमको शोच करना उचित नहीं है ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ॥
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैनंशोचितुमर्हसि ॥२६॥

दोहा—जो जानहु तुम तिनहिं को, नित्य जो आवै जाई ॥
तौ शंका तू जनि करै, मन दृढ़ता में गोई ॥ २६ ॥

टीका-हे अर्जुन ! यदि तुम इस आत्माको बारंबार जन्म लेनेवाला और मरनेवाला मानों तोभी हे महाबाहो ! अर्जुन इस आत्मा क विषे तुमको शोक करना योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्यहि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच ॥
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितु मर्हसि ॥२७॥

दोहा—जो जन्मै सो निश्चय मरहि, मर्यो जनम है ताहि ॥
शोच न उचित ताते तुमहिं, अमिट पदार्थ न आहि ॥७२॥

टीक-हे अर्जुन ! जिसका जन्म है उसका मरण भी निश्चय है और जो मरता है वह अवश्य जन्म लेता है इस कारण होनहार कार्य विषे तुम को शोक करना व्यर्थ (अयोग्य) है ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥२८॥

दोहा-अव्यक्तहि ते होत जग, व्यक्त मध्यमें होय ॥
पुनि अन्तहु अव्यक्त है, तहँ विलाय कहकोय ॥ २८ ॥

टीका — हे भारत ! अर्जुन प्रकृति जिस भौतिक देहकी आदि है और प्रकट हो कि वहस्थिति उनकी मध्यमें और प्रधानहीमें वह लयभी होते हैं तो इस देहोपाधिभूत आत्मा विषे शोक किस वास्ते करना २८

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ॥
आश्चर्यवच्चैनमन्यःशृणोति श्रुत्वाऽप्येनंवेदन चैवकश्चित्॥२९॥

दोहा-अचरज सम लख आन त्यों, वह आश्चर्य समान ॥
दूसर अचरज करि सुनैं, सुनेहु न यहि कोउ जान ॥२९॥

टीका-कोई कोई विद्वान पुरुष इस आत्मा को आश्चर्य युक्तकी भाँति देखते हैं और इसी न्याय वस कोई २ यह आश्चर्यवत है ऐसा कहते हैं उसी भाँति कोई २ इसे आश्चर्य युक्त श्रवण करते हैं और कोई २ इसे सुनकर भी नहीं जानते ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।३०।

दोहा-देही नित्य अवध्य है, बसतु सबनि की देह ॥
ताते शोच न कीजिये, करि काहू सो नेह ॥ ३० ॥

टीका-हे भारत ! अर्जुन यह आत्मा संपूर्ण प्राणियों की देह में सदैव अवध्य अर्थात् अविनाशी है इस कारण सम्पूर्ण भूतों के हेतु तुमको शोक करना अनुचित है ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ॥
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते३१

दो०-वेद भनित निज धर्म लखि, कंपन उचित न तोहिं ।
धर्म युद्ध ते अपर भल, क्षत्रिय के नहिं होहिं ॥३१॥

टीका–हे अर्जुन ! स्वधर्मका भी विचार करके तुम को दया करना उचित नहीं है कारण कि क्षत्रियों को स्वधर्म से प्राप्त हुए युद्धसे बढ़कर दूसरा भला करनेवाला कुछ भी नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥
सुखिनःक्षत्रियाःपार्थ लभंतेयुद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

दोहा-विधि इच्छा से प्रगट जो, खुलो स्वर्ग को द्वार ॥
पार्थ सुखी क्षत्रिय लहैं, ऐसो युद्ध जुझार ॥ ३२ ॥

टीका--बिना यत्न किये दैवी इच्छा से खुला स्वर्ग द्वाररूप यह संग्राम तुमको प्राप्त हुआ है हे अर्जुन ! जो स्वर्गद्वाररूप संग्राम अत्यन्त भाग्यशालीही क्षत्रियों को प्राप्त है ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमंधर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ॥
ततःस्वधर्मंकीर्तिंच हित्वापापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

दोहा-धर्म रूप यह युद्ध यदि, तुम न करहु अरिताप ॥
तो स्वधर्म अरु कीर्ति तजि, पावहु केवल पाप ॥ ३३ ॥

टीका--हे अर्जुन अब तुम स्वधर्म से प्राप्तहुए इस युद्ध को यदि न करोगे तो तुम अपनी स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) और कीर्ति को डुबाकर केवल पाप को ही पावोगे ॥ ३३ ॥

अकीर्तिंचापिभूतानि कथयिष्यंतितेऽव्ययाम् ॥
संभावितस्यचाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

दोहा-कहहिं अखण्डित तव अयश, जग नर नारी जोय ॥
मान्य पुरुष केरो अयश, अधिक मरण ते होय ॥३४॥

टीका-उक्त प्रकार कहीं तुम्हारे करने पर सबलोग तुम्हारी बड़ी भारी अपकीर्ति का वर्णन करैंगे परन्तु, मानयुक्त पुरुष का तो ऐसी अपकीर्ति मरण से भी अधिक दुःखदाई होती है

**भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ॥
येषांच त्वं बहुमतोभूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥**

दोहा-तुम्हें महारथ जानि हैं, भय बस पार्थ परान ॥
तिन्हें लागिहो लघु अबहिं, करैं जो तुव बहुमान ॥३५॥

टीका-और जिन वीरों का तुम प्रथम अत्यन्त मान्य हुये हो वही महारथी तुम को डर करके युद्ध में भाग कर चले गये यह मानैंगे प्रथम सर्व मान्य होकर पीछे उनके ही आगे तुम को तुच्छपन प्राप्त होगा ॥ ३५ ॥

**अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ॥
निंदन्तस्तवसामर्थ्यं ततोदुःखतरंनुकिम् ॥ ३६ ॥**

दोहा--वचन अवाच्य अनेक विधि, कहिहैं अहित तुम्हार ॥
तुम सामर्थहि निंदिहैं, तेहि दुःख को बड़भार ॥३६॥

टीका-तुम्हारेही शत्रुगण तव पराक्रम की निन्दा करके बहुतसे निन्दित वचनों को कहेंगे इससे अधिकतर कौन दुःख होवेगा ॥

**हतोवाप्राप्स्यसिस्वर्गं जित्वावा भोक्ष्यसेमहीम्॥
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥**

दोहा-लहिहो सुरपुर रणमरे, जीते धरणी राज ॥
अस विचारि कुन्ती तनय, करहु युद्ध युत साज ॥३७॥

टीका-कौन्तेय ! अर्जुन यदि तुम संग्राम में लड़ते हुए मारे भी जावोगे तो स्वर्ग को प्राप्त होवोगे और यदि संग्राम में जीतोगे

तो पृथ्वी का राज्य भोग करोगे इस कारण दृढ़ निश्चय करके युद्ध के लिये उद्यत हो जावो ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ॥
ततो युद्धाययुज्यस्व नैवंपापमवाप्स्यसि ॥३८॥

दोहा-लाभ हानि सुख दुख अजय, जयहु मानि सम आप ॥
क्षत्रिधर्म रण समुझि हिय, लरौ लहौ नहिं पाप ॥

टीका-सुख दुःख समान मानकर और इन्हीं के कारणी भूत लाभ, हानि, जीत, हार इन सबों के मध्य सम बुद्धि होकर स्वधर्म बुद्धि द्वारा युद्ध करने की तैयारी करो इस तरह से तुमको पाप नहीं लगेगा ॥ ३७ ॥

एषातेऽभिहितासांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमांशृणु ॥
बुद्ध्यायुक्तोयथापार्थ कर्मबंधंप्रहास्यसि ॥ ३९॥

दोहा-यह तुम सो मत सांख्य को, कहौं सुनहु मत योग ॥
या मत लहि तुम त्यागि हो, कर्म बन्ध भवभोग ॥३९॥

टीका-कहे हुये ज्ञान योग को अब समाप्त करके कर्मयोग बताते हैं यह सांख्य योग में कही हुई बुद्धि तुम से कह चुके अब योग रीति कहते हैं हे अर्जुन ! सुनो जिस बुद्धि के युक्त होने से तुम कर्मबन्धन को छोड़ोगे ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ॥
स्वल्पमप्यस्यधर्मस्य त्रायतेमहतोभयात् ॥४०॥

दोहा-इहां अफल आरम्भ नहिं, प्रत्यवाय पुनि नाहिं ॥
अल्पहु यह धर्महि कहे, महा त्रास नहिं ताहि ॥ ४० ॥

टीका-निष्काम कर्मयोग में प्रारम्भ किये कर्म में न्यूनाधिक होनेपर भी फल का नाश नहीं है, और दोष भी नहीं है इस निष्काम कर्म के आरम्भ में किये हुये लवलेश से भी घोर संसार के भय का रक्षक होता है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ॥
बहुशाखाह्यनंताश्चबुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
दो०-निश्चय मति एकहि अहै, अर्जुन जो निष्काम ॥
मति शाखा बहुतैं लहै कर्म जो करै सकाम ॥

टीका-हे अर्जुन ! इस परमेश्वर के आराधन में निश्चयात्मक बुद्धि एकही होती है और काम्यकर्म में तो कामी पुरुषोंकी बुद्धियां भी अनेक भाँति की अनेक हैं ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितांवाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
दोहा-वेद वादही में निरत, अर्जुन ते अज्ञान ॥
फूल सरिस बाणी गहत, और कछू नहिं मान ॥ ४२ ॥

टीका-हे अर्जुन ! मूर्ख लोग स्वर्ग से बढ़कर दूसरा सुख न गहते हुए वेद के कहे हुए कर्म ही में प्रीति रखते हैं ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेष बहुलां भोगैश्वर्य गतिंप्रति ॥४३॥
दोहा-स्वर्ग लाभ की कामना, रहित जो तिनको चित्त ॥
भोग बड़ाई के लिये, करत क्रिया सो हित्त ॥ ४३ ॥

टीका-भोग ऐश्वर्य की प्रीति से जिनका चित्त अपहृत है उनको निश्चयात्मक बुद्धि ईश्वर प्राप्ति की नहीं उत्पन्न होती कारण कि उनका चित्त भोगादि में सदैव रमता रहता है ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिकाबुद्धिः समाधौनविधीयते ॥४४॥
दोहा-भूति सुभोगन मन रम्यो, हरयो सकल सुविचार ॥
मम सन्मुख मन करत नहिं, लहन प्रतीति सुखार ॥४४॥

टीका-जिन पुरुषों का मन भोगैश्वर्य में आसक्त हो जाता है उनका चित्त एकान्त होने पर भी उनमें परमेश्वर के विषे निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥
निर्द्वंद्वो नित्यसत्वस्थोनिर्योगक्षेमआत्मवान् ४५

दोहा-त्रिगुण विषय सम वेद है, गुणातीत तुम होहु ॥
द्वन्द रहित धीरज सहित, योग च्छेम जनि जोहु ॥४५॥

टीका-हे अर्जुन ! वेद त्रिगुणात्मक अर्थात् सकाम है, तुम इस कामनादि के फल की इच्छा को छोड़ निष्काम होकर निर्द्वन्द्व अर्थात् शीतादि के सुख दुःख को समान जानकर धैर्य का आश्रय लेकर और योगच्छेम से राहित होकर बुद्धिमान होवो ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

दोहा-सब निर्झर जल ग्रहण में, जितनो कारज सार ॥
जितनो सब श्रुतिन में, ज्ञानी द्विज करतार ॥ ४६ ॥

टीका-जो कार्य कूप, बावली इत्यादि से निकलता है वही बड़े २ नदादि से, इस कारण विचारवान् पुरुष ब्राह्मण को सब वेद से जो कर्म (मतलब) निकलता है वही उसके एकदेश निष्काम वाक्य से भी निकल सक्ता है ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
मा कर्मफलहेतुर्भूर्माते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

दोहा--तुम अधिकारी कर्म के, नहिं फलके अधिकार ॥
फल बांछा जनि करो तुम, तजो न कर्म अपार ॥४७॥

टीका-हे अर्जुन ! तुमको केवल कर्म के करने का अधिकार है उक्त कर्मों के करने से बंधन के कारण भूत फलों में तुम्हारा

अधिकार नहीं है कदापि तुम कर्म फल की इच्छा न करना और वैसेही कर्म न करने का साहस न करना ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरुकर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वासमत्वंयोगउच्यते४८

दोहा-त्यागि संग टिकि योगमहँ, कर्म करहु तुम बीर ॥
समगनि सिद्धि असिद्धि कहँ, समता योग सुधीर॥४८॥

टीका--हे अर्जुन ! ऐसे अभिमानको छोड़ कर ज्ञानरूप फलकी सिद्धि या असिद्धि को समान जानकर परमेश्वर में एकनिष्ठ होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मों को करो, हर्ष विषाद में समत्व धारण करने से चित्त के समाधान होने के कारण सत्पुरुष उसको योग कहते हैं ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म वुद्धियोगाद्धनंजय ॥
बुद्धौशरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

दोहा-हे अर्जुन मति योग सन, कर्म अधम मति मान ॥
बुद्धि शरण तुम गहहु मन, होहिं कृपण फलवान॥४९॥

टीका--हे अर्जुन ! बुद्धि योग अर्थात् व्यवसायात्म्य बुद्धि से दूसरा काम्य कर्म बहुत दूर है इस लिये बुद्धि योग में ईश्वर के मिलने की इच्छा करो कारण कि फल के समस्त कारण दीन होते हैं

वुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाय युज्यस्वयोगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

दोहा-बुद्धि जगति दोऊ तजत, कहाँ पुण्य कहँ पाप ॥
योग कर्म में चतुरई, सोई जु करिये आप ॥ ५० ॥

टीका-निष्काम करनेवाला पुरुष ईश्वरेच्छा से इसी जगत् में सुकृत और दुष्कृत दोनों ही कर्म को त्यागता है इसलिये तुम निष्काम कर्म करने को प्रवृत्त होवो कारण कि निष्काम कर्म सर्व कर्मों में कल्याणप्रद है ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ताहि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ॥
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदंगच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

दोहा--त्यागि कर्म फल बुद्धि बल, जो विद्वद्वर आहिं ॥
जन्म बन्धसों छूटि भल, धाम अनामय जाहिं ॥५१॥

टीका—इसी हेतु से केवल निष्काम कर्म करने वाले ज्ञानी लोग कर्म जन्य फल को त्याग करके आत्म-ज्ञान द्वारा जन्म बन्धन से मुक्त होकर निरुपद्रव मोक्षपद को जाते हैं ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकालिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥
तदा गंतासिनिर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

दोहा-मोह सघनता जब तजै, अर्जुन तेरी बुद्धि ॥
तब पैहै बैराग को, चित्त में करि है शुद्धि ॥ ५२ ।

टीका—हे अर्जुन ! जिस समय निष्काम कर्म द्वारा आपकी बुद्धि मोह (देहाभिमान) को उल्लंघन करेगी उसी समय वस्तुमात्र विषै और जो श्रवण करोगे उस वस्तु मात्र में आप का वैराग्य प्राप्त होवेगा ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्नाते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

दोहा--सुनि कै भ्रमित सुबुद्धि यह, लहै समाधि अडोल ।
जबहिं तबहिं तुम लहहु वह, अर्जुन योग अमोल ५३

टीका-लौकिक और पारमार्थिक फल श्रवण करके भ्रमित हुई यह आप की बुद्धि जिस समय आत्मा में निश्चल होकर स्थित होवेगी उसी समय तुमको ज्ञान प्राप्त होवैगा ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्यका भाषा समाधिस्थस्य केशव ॥
स्थिधीः किंप्रभाषेतकिमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

दोहा-अस्थिर मति केहि कहतहैं, स्थिर समाधि पुनि केहि।
स्थिरमति काह कहै चहै, चले कृष्ण कहु तेहि ॥५४॥

टीका-उक्त कथन श्रीकृष्ण का सुनकर अर्जुन ने पूछा कि-हे केशव! आत्मस्वरूप में समाधि लगाकर निश्चल बुद्धि रहनेवाले पुरुष का क्या लक्षण है? और वह स्थिर बुद्धिवाला पुरुष कैसे भाषण करता है? और कैसे बर्तता है? और गमन भी कैसे करता है? सो मुझ प्रति कहिये ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ॥
आत्मन्येवात्मना तुष्टःस्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ५५

दोहा—जब मनकी सब कामना, अर्जुन जाय विलाय।
आपु आपुहि में रम रहै, अस्थिर मति सो भाय॥५५॥

टीका-अर्जुन के प्रश्नों को सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा कि—हे पार्थ! जब पुरुष मनोगत संपूर्ण कामों को छोड़कर अपनी आत्माही में मन से संतुष्ट होगा तब उक्त लक्षणों के द्वारा स्थितप्रज्ञ (आत्मनिष्ठ) कहा जाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेष विगतस्पृहः॥
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दोहा-दुःख लहि नहिं उद्वेग मन, सुख की इच्छा नाहिं।
गयो राग भय रोषरस, स्थिर मति कहिये ताहि ॥५६॥

टीका-जिस समय ममता, भय, क्रोध इनसे रहित होनेसे दुःख प्राप्त होने पर जिसका चित्त कभी व्याकुल न होवै और सुख की इच्छा भी न करै तो वह मुनि स्थित प्रज्ञ कहा जाता है ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ॥
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।५७

दोहा—नेह रहित सर्वत्र जो, और शुभाशुभ पाय ।
ताकी निश्चल बुद्धिसो, हर्ष विषाद न जाय ॥५७॥

टीका—जो पुरुष स्त्री पुत्रादि के विषे स्नेह रहित होने के कारण जो जो शुभ अशुभ प्राप्त होवै उसे उसके विषे न तो आनन्द मानता है न द्वेष उसकी ही बुद्धि ब्रह्मनिष्ठ है ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।५८।

दोहा—रूपादिक सब विषयते, इन्द्रिय को संहार ॥
करै कमठ निज अंग जिमि,सो स्थिर मति सुविचार॥५८॥

टीका-जब योगी पुरुष शब्दादि से इन्द्रियों को सब तरफ से खींच लेता है जैसे:-कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है उसी भाँति कर लेनेसे, तब उस योगी की प्रज्ञा (बुद्धि) समाधि में स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ॥
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५९॥

दोहा—जीतैं इन्द्रिय गणन को, अर्जुन तजि आहार ।
रस वर्जित सोऊ मिटैं, लहि पर पुरुष अपार ॥५९॥

टीका—जो पुरुष कुछ खाता नहीं उसकी इन्द्रियाँ विषयों से अलग होती हैं परन्तु उसको प्रीति आदिकी जुदाई नहीं होती और समाधिस्थ पुरुष के रोगादि परमात्मा के दर्शन से अलग हो जाते हैं ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ॥
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥६०॥

दोहा—यतन करै कुंती तनय, पुरुष विवेकी कोउ ।
बलते ताको मन हरै, दुष्ट इंद्रियन जोउ ॥ ६० ॥

टीका-हे अर्जुन ! विचारवान और प्रयत्न करने वाले के भी मनको इन्द्रियाँ बल से खींच लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ॥
वशेहियस्येन्द्रियाणि तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता॥६१॥

दोहा-सबहि इंद्रियन रोकि के, योगी मत्पर होय ॥
इंद्रिय गण बस जाहि के, अचल बुद्धि है सोय॥६१॥

टीका—उन सब इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके योगीपुरुष को मैंही परब्रह्म परमात्मा हूँ इसभाँति परमात्मा दृष्टि करके सब काल रहना चाहिये जिस पुरुष की इन्द्रियाँ बस में रहती हैं उसकी बुद्धि निश्चय करके निश्चल होती है ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ॥
संगात्संजायते कामःकामात्क्रोधोऽभिजायते६२

दो०—नर कह विषयन ध्यान ते, होय संग तिन सोय ॥
काम होय तिन संग ते, क्रोध काम ते होय ॥ ६२ ॥

टीका-शब्दादि विषयों को मनमें चिन्तवन करते हुये पुरुषकी उन उन विषयों में आशक्ति होती है उस आसक्ति से उनके संभोग विषयन विषे सुखादि की प्रबल इच्छा पैदा होती है और उस अभिलाषा से काम और काम से क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहःसंमोहात्स्मृतिविभ्रमः॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति६३

दोहा-होय क्रोधते मोह बड़, ताते स्मृति भ्रम होय ॥
स्मृति भ्रम प्रज्ञा को बिलै, गयो सकल तब खोय ॥६३॥

टीका--क्रोध से अत्यन्त मोह (कार्याकार्य विवेक शून्यता) होता है उस मोह से स्मृति (गुरु उपदेशित ज्ञान नष्ट होता है स्मृति नष्ट होने से ज्ञानका नाश होता है और ज्ञान) नष्टहोने से सब भाँति के फल से भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ॥
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।६४

दोहा—राग द्वेष के योग से, करै विषय की सेव ॥
इन्द्रिय जो निज बस करै, लहै शांति को भेव॥ ६४ ॥

टीका—जो पुरुष मन को अपने वश में किये हुये राग द्वेष रहित होकर इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करता है वह पुरुष निस्सन्देह शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिःपर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

दोहा—चित्त प्रसाद ते सो लहै, सकल दुःख की हानि ॥
भा प्रसन्न चित जाहि को, थिर मति तासु बखानि॥६५॥

टीका—चित्त शुद्धि होने के कारण प्रसन्न चित्त हुये पुरुष के सकल दुःखों का नाश हो जाता है और उससे उस प्रसन्न चित्त की बुद्धि भी शीघ्र आत्मनिष्ठ प्रतिष्ठित होती है ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ॥
नचाभावयतः शांतिरशांतस्यकुतः सुखम् ।६६।

दोहा—अजितेंद्रिय कहँ नहिं अहै, बुद्धि भावना दोय ॥
नहिं अभावनहिंशाँनि किमि, सुख अशान्त कहँहोय ॥६६॥

टीका—हे अर्जुन ! अजितेन्द्रिय पुरुष की बुद्धि शास्त्र और गुरु के उपदेश से भी आत्म विषय में स्थिर नहीं होती और उस पुरुषको ज्ञानभी नहीं होता और उसकी आत्मा शांतिको भी नहीं प्राप्त होती इस परम्परा ज्ञान के बिना उसको ब्रह्मानन्द सुखकी प्राप्ति कहाँ से होवै ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणांहि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ॥
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥६७॥

दोहा-इन्द्रिय विषयन को चलै, ता पीछे मन धावै ॥
सो मन ताको मन हरै, जिमि समीर जल नाव ॥६७॥

टीका-कारण कि विषयों में स्वेच्छा पूर्वक आचरण करती हुई इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय मन को अपने पास खींच लेती है वही एक इन्द्रिय उस पुरुषको बुद्धिको विक्षिप्त (पागल) कर देती है जैसे:प्रबल वायु जलमें नावको डुबा देती है या पत्थर की टक्कर से फोड़ डालती है या इधर उधर भ्रमण कराती है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

दोहा-विषयनते निग्रह कियो, जिन इन्द्रिय समुदाय ॥
महाबाहु कुन्ती तनय, स्थिर मति तासु बनाय ॥६८॥

टीका-हे महाबाहो ! अर्जुन जिस पुरुष की संपूर्ण इन्द्रियां विषयों से निवृत्त हो जाती हैं उसी की बुद्धि आत्मैकानिष्ठ (प्रतिष्ठित) कही जाती है ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ॥
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः६९

दोहा-आतम स्थित नरकी निशा, तहाँ यती जन जाग ।
विषयनमो जागै जगत, मुनिहिं निशासीलाग ॥६९॥

टीका-हे अर्जुन ! प्राणीमात्र की जो रात्रि है उस रात्रि में इन्द्रिय निग्रह करने वाला योगी जागता रहता है और जिस समय प्राणीमात्र जागते रहते हैं वही आत्मतत्त्वको देखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ मुनि की रात्रि है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठंसमुद्रमापःप्रविशंति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे सशांतिमाप्नोतिनकामकामी ॥

दोहा-अचल अखण्डित उदधिमहँ, जिमि जल सकलसमाहिं ।

तिमि सुमाहिं सब कामना, ब्रह्मनिष्ठ के मांहि ॥ ७० ॥

टीका--जैसे सब ओर से भरे हुये समुद्र में जल प्रवाह समाजाता है और वह अपनी मर्यादा को नहीं त्यागता उसी भाँति समस्त विषयों से पूर्ण मनुष्य होनेपर भी उनमें वह हर्ष विषाद को नहीं प्राप्त होता सोई पुरुष मोक्षको प्राप्त होगा और विषयोंकी इच्छा करनेवाला कभी पुरुष मोक्षको नहीं प्राप्त होता है

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरतिनिस्पृहः ॥
निर्ममोनिरहंकारः सशांतिमधिगच्छति ॥७१॥

दोहा--सकल कामना त्यागि जो, निस्पृह विचरु पुमान ॥
अहंकार ममता रहित, लहै शान्ति निरवान ॥ ७१ ॥

टीका- जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़ इच्छा रहित होकर व्यवहार करता है और ममता व अहंकार से रहित है सोई पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

एषाब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्यविमुह्यति ॥
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपिब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ७२

दोहा--कह्यो पार्थ यह ब्रह्म स्थिति, पालहि लहै न मोह ॥
यामें बसि परिनाम सो, पावै सुख सन्दोह ॥७२॥

टीका--हे पार्थ ! यह ब्रह्म प्राप्त करनेवाला निष्ठा मैंने आपसे कही इसको जो प्राप्त होता है वह फिर संसार रूप मोहमें नहीं पड़ता कारण, कि इस ब्राह्मी स्थिति में जो अन्त समय क्षणमात्र भी रहता है वह उपाधि रहित ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे पं० महाराजदीन दीक्षित कृत भाषा दोहा संकलिते सांख्य योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसीचेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ॥
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

दोहा—कृष्ण कर्मते श्रेष्ठ यदि, बुद्धि आपने मान ॥
तो क्यों दारुण कर्म महँ, मुँहि डारो भगवान ॥ १ ॥

टीका—श्रीकृष्णचन्द्रजी की वार्त्ता को सुनकर अर्जुन बोले कि हे जनार्दन ! यदि कर्मयोग से ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ है और आपकी यही आज्ञा भी है तो हे केशव ! आपमुझे हिंसात्मककर्म विषे क्यों प्रेरणा करते हो ? ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिंमोहयसीवमे ॥
तदेकंवदनिश्चित्ययेनश्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

दोहा—मिलित वाक्य सुनि तुव कथित, लहै मोह मति मोरि ।
कहिये एक निश्चित हरि, लहौं सुखहि भ्रम तोरि ॥२॥

टीका—हे श्रीकृष्ण । आपने मुझसे कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही का श्रेष्ठत्व वर्णन किया परन्तु ऐसी अपनी मिश्रित सन्देह युक्त बाणी से मेरी बुद्धि को सन्देह उत्पन्न कराते हो ऐसा मुझे प्रतीत होता है इसलिये उक्त दोनों में से किसी एक का निश्चय करके मुझ प्रति कहिये कि जिसके द्वारा कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होजाऊँ ॥ २ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठापुराप्रोक्तामयाऽनघ ॥
ज्ञानयोगेनसांख्यानांकर्मयोगेनयोगिनाम् ॥३॥

दोहा—दुइ निष्ठा यहि लोककी, कह्यो प्रथम महिं तात ॥
ज्ञान योग है सांख्य के, योगी कर्म कमात ॥ ३ ॥

टीका-उक्त प्रश्न को सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा कि हे अर्जुन! इन अधिकारी जनों के लिये पूर्व अध्याय में मैंने दो प्रकार की निष्ठा कही सांख्यवाले को ज्ञानयोग और योगवाले को कर्मयोग वर्णन किया ॥ ३॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽनुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिंसमाधिगच्छति ॥४॥

दोहा—एक समय नहिं एक को, कह्यो करन मैं दोय ॥
है जब जेहि अधिकार जस, करहि तबै तस होय ॥४॥

टीका-हे अर्जुन! अन्तःकरण शुद्धि होकर ज्ञानोपदेश पर्यन्त बिना नित्य नैमित्तिक कर्म किये पुरुष मोक्ष को कदापि नहीं प्राप्त होता यदि कर्म को छोड़कर शिखा जनेऊ को त्याग करके संन्यासही ग्रहण करलेवे तो मोक्ष की सिद्धि नहीं होती है ॥ ४ ॥

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशःकर्म सर्वःप्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

दोहा—कार्य किये बिनु छिन कहूं, रहैं न काऊ जन्तु ॥
विवश भये कर्मनि करै, बाँधै माया तन्तु ॥ ५ ॥

टीका—कोई पुरुष किसी अवस्था में बिना कर्म किये क्षणमात्र भी ठहर नहीं सक्ता कारण कि सब लोग प्रकृति से उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक रागादिक गुणों से परवश होकर कर्म करते ही रहते हैं ॥ ५ ॥

कर्मेंद्रियाणि संयम्य य आस्तेमनसास्मरन् ॥
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारःसउच्यते॥६॥

दोहा—संयम करि कर्मेन्द्रियन, चितसो विषयन ध्यान ॥
करत रहत ताको कही, मिथ्याचार अजान ॥ ६ ॥

टीका—जो कोई अज्ञानी पुरुष कर्मेन्द्रियों का नियम न करके

अन्तःकरण में विषयों का ही चिन्तवन करता है वह मिथ्याचारी पाखण्डी कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणिमनसा नियम्यारभतेऽर्जुन
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

दोहा–जो मनसा सब इन्द्रियन, दलि वस निज किय अन्य ॥
करै कर्म कर्मेन्द्रियन, नहिन सक्त सो धन्य ॥ ७ ॥

टीका–हे अर्जुन ! जो कोई पुरुष अन्तःकरण से इन्द्रियोंको नियममें करके स्वयं फलके विषे अनासक्त होकर ईश्वरार्पण बुद्धि द्वारा कर्मेन्द्रियों से स्मार्त्तादि कर्मोंको चित्त शुद्धि के लिऐ करता है उस पुरुष को श्रेष्ठ जानना ॥ ७ ॥

नियतंकुरुकर्मत्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः ॥
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ८ ॥

सोरठा–नियत करहु तुम कर्म, अकरम ते वर कर्म है ॥
जो न करहु तुम कर्म, देह जीवि कह होय नहिं ॥ ८ ॥

टीका–हे अर्जुन ! इस कारणसे तुम अवश्य विधि युक्त संध्योपासनादिक कर्मों को करो कारण कि बिलकुल कर्म न करनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है और जो तुम सर्वथा कर्मका त्यागही करदोगे तो तुम्हारी देहकी रक्षा भी न की होगी ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ॥
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

दोहा–बिना ईश रतिलागि, कर्म लोक बन्धन अहै ॥
त्यहि हित संगहि त्यागि, कर्म करहु कुन्तीतनुज ॥ ९ ॥

टीका–हे कौंतेय ! अर्जुन ईश्वर निमित्त कर्मके सिवाय अन्य दूसरे कर्म इसलोक के बन्धन रूप हैं इस कारणसे फलकी इच्छा को छोड़कर कर्म को अवश्य करो ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेनप्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

दोहा—प्रजा सहित मष रचि कह्यो, प्रथम प्रजापति नाम ॥
लहि हौ मषते बंशवर, पुनि बांछित सबकाम ॥ १० ॥

टीका-सृष्टिके प्रारम्भ में ब्रह्माजी ने समस्त कर्म श्रुति द्वारा पंच महायज्ञादि नित्य नैमित्तिकादि कर्म और वर्णाश्रम धर्म विभाग पूर्वक सब प्रजाको उत्पन्न करके उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ यागादि कर्म को करके वृद्धि पावोगे और इसी द्वारा तुमको इष्टफल भी प्राप्त होवैंगे ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवाभावयन्तु वः ॥
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

दोहा—मख करि सुर तोषन करो, देव करैं तुव तोष ॥
किये परस्पर भावना, लहिहो सुख गत दोष ॥ ११ ॥

टीका—इन यज्ञादि कर्मों करके इन्द्रादि देवताओंको हविर्भाग देकर संतुष्ट करो कि जिससे वह देवता लोग भी तुम पर प्रसन्न होकर तुम्हारा पालन पोषण करैं इस भाँति परस्पर होने से दोनों ही जन परस्पर कल्याण को प्राप्त होवोगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवादास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्तेस्तेन एवसः ॥ १२ ॥

दोहा—यज्ञ तोष लहि देव सब, देहैं बांछित तोर ॥
जो न देहि लहि तोहिते, निज सुखरत सो चोर ॥ १२ ॥

टीका—हे अर्जुन ! और यज्ञादि कर्मों करके प्रसन्न हुऐ देवता गण तुमको वर्षादि द्वारा इच्छित भोग देवैंगे और उनके दिये हुये अन्नादिकों का भाग पंचमहायज्ञादि कर्म करके उनको जो नहीं देकर अपने ही शरीर पुष्ट करने के निमित्त आपही भोग भोगैवह चोर है ऐसा तुम निश्चय जानो ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः॥
भुञ्जते ते त्वघंपापा ये पचन्त्यात्मकारणात् १३

दोहा—यज्ञ शेष भोजन करै, तिनको पाप दुराय॥
पाक करै जो आपु हित, भोग करै सो पाप॥ १३॥

टीका—इसी कारण से पंचमहायज्ञादि कर्मों को करके उसमें से बचे हुये अन्नको जो लोग भोगते हैं वही सत्पुरुष पंच सूनादि सब दोषों से मुक्त हो जाते हैं और जो दुराचारी केवल अपने ही भोजन के अर्थ अन्नको पचाते हैं वह पापी लोग अन्नरूप अपने पापकोही भक्षण करते हैं॥ १३॥

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः॥
यज्ञाद्भवतिपर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

दोहा—जीव अन्नते होत अरु, अन्न मेघते होय॥
मेघ यज्ञ ते होत अरु, यज्ञ कर्म ते जोय॥ १४॥

टीका—अन्न से संपूर्ण जीव उत्पन्न होते हैं और अन्न वृष्टि से और वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥
तस्मात्सर्वगतंब्रह्म नित्यं यज्ञेप्रतिष्ठितम्॥१५॥

दोहा—कर्म वेद भव जानियो, अक्षर भव है वेद॥
यज्ञ प्रतिष्ठित सर्वगत, ब्रह्म वेद गत खेद॥१५॥

टीका—हे पार्थ! इस संसार में यह पूर्वोक्त कर्म कहा हुआ चक्ररूप परमेश्वर ने जीवों का पुरुषार्थ सिद्ध होनेके लिये प्रवर्तित किया है कि जिसको अधिकारी पुरुष अनुकरण न करैं वह केवल विषय भोगमें लंपट होनेवाला पापी पुरुष वृथा जीवता है॥१५॥

एवंप्रवर्तितंचक्रं नानुवर्त्तयतीह यः॥
अघायुरिंद्रियारामो मोघंपार्थ सजीवति॥१६॥

दो०—भयो प्रवर्तित चक्र इमि, जौन करै यह रीति ॥
इन्द्री लम्पट अघी सो, जिये वृथा अस नीति ॥ १६ ॥

टीका—हे अर्जुन ! पूर्वोक्त चक्र मैंने इस भाँति प्रवृत्त किया है जो पुरुष इस लोक में उसके अनुसार नहीं चलता सो पाप जीवी और विषयासक्त है और उसका जीवन भी व्यर्थ ही है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः ॥
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्यकार्यं न विद्यते॥१७॥

दोहा—जो जन आपुहि में रमै, लहै तृप्ति निज मांहि ॥
आपुहि सो संतुष्ट है, तिन्है कर्म कछु नाहिं ॥ १७ ॥

टीका—जो कोई पुरुष मैंही ब्रह्म हूँ, ऐसा मानकर अपनेही स्वरूपमें रमता है वह पुरुष आत्मानन्दके अनुभव होने से ही नित्य तृप्त रहता है और जिसके आत्म स्वरूप के लाभ के बिना कोई किसी भांतिकी वासना नहीं रहती और वह उसी में सन्तुष्ट रहता है ऐसे उस ब्रह्मनिष्ठको कुछभी कर्त्तव्य नहीं रहता है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो ना कृतेनेह कश्चन ॥
न चास्यसर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

दोहा—ज्ञानहि अर्थ अनर्थ नहि, किये न किये समान ॥
सर्व भूतमो धीर कछु, अर्थ लाभ नहिं जान ॥ १८ ॥

टीका-उस आत्माराम को इस लोक में किये हुय कर्म से कुछ भी अर्थ (पुण्य) है ही नहीं और कुछ भी कर्म न करने से उनको कोई अर्थ (पाप) नहीं है वैसाही उसको सब भूतों में आश्रय करने योग्य भी कोई नहीं है ॥१८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ॥
असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोतिपूरुषः ॥१९॥

दोहा—ताते नित कर्मन करहु, फलाभिलाषा त्यागि ॥

कर्म लहत तौ मोक्ष कहँ, कर नर नहिं फल लागि ॥

टीका-इस कारणसे हे अर्जुन! तुम भी फल प्राप्तिकी इच्छा रहित होकर करने योग्य नित्य नैमित्तिक कर्मही को निरन्तर करो कारण कि जो पुरुष फलकी इच्छा छोड़कर विधिपूर्वक वेदोक्तकर्म करता रहता है सोई चित्त शुद्धि पूर्वक ज्ञानद्वारा मोक्षको पाता है॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

दोहा-करि कर्महिं जनकादि नृप, लह्यो विमल विज्ञान ॥
हेतु लोक संग्रह करौ, कर्म रहित अभिमान ॥ २० ॥

टीका-जनकादि ज्ञानी राजाओं ने कर्म ही करने से मोक्ष को प्राप्त हुए और तुमभी भली भांति अच्छे प्रकार से उक्त लोगों के अनुसार देखकर कर्म के करने योग्य हो तुम्हारा इसीसे कल्याण होगा ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः ॥
सयत्प्रमाणंकुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

दोहा-जो आचरहिं महापुरुष, करहिं इतर जन सोय ॥
सो प्रमान पाकर करै, लोक मान्य सो होय॥ २१ ॥

टीका-हे अर्जुन! श्रेष्ठजन जिस २ कर्म का आचरण करते हैं उसी २ कर्मको प्राकृत जन भी प्रमाण मानकर अनुवर्त्तते हैं ॥२१॥

नमेपार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन ॥
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त्तएवचकर्मणि ॥२२॥

दोहा-तीन लोकमों करन कहँ, तात मोहिं कछु नाहिं ॥
नहि लहिबे अन लहे पुनि, तदपि करौं सब चाहि॥२२॥

टीका-हे पार्थ! अर्जुन देखो मुझको आवश्यकीय कर्त्तव्य कुछ भी नहीं है और त्रैलोक्य की वस्तुओं में मुझे अप्राप्त और प्राप्त

करने का ऐसा कोई भी रहा नहीं तथापि शिक्षा हेतु करने में प्रवृत्त होता हूँ सो तुम प्रत्यक्ष देखते ही हो ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ॥
ममवर्त्मानुवर्त्तते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

दोहा-जौन करहिं हम कर्म को, तजि आलस सुत शक्र ॥
मेरोई पथ सब अनुसरै, सकल जनन के चक्र ॥ २३ ॥

टीका-यदि कदाचित् मैं मन्त्र, तन्त्र, प्रयोगादि में निरस होकर कर्म न करूंगा तो हे अर्जुन ! सब लोग उसी मार्ग पर चलैंगे अर्थात् कर्म को त्याग करैंगे सदैव से चल आई है कि बड़ों को देखकर इतर जन उसी के अनुसार आचरण करते हैं ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमेलोका न कुर्यांकर्मचेदहम् ॥
संकरस्य च कर्तास्यामुपहन्यामिमाःप्रजाः॥२४॥

दोहा-जो न करहिं हम कर्म को, लहै लोक उच्छेद ॥
संकर करता होउ मैं, प्रजा लहैं अति खेद ॥ २४ ॥

टीका-यदि मैं उक्त आचरण न करूँ तो यह लोग कर्म के लोप होने से नष्ट हो जावेंगे तो मानों वर्णसंकर प्रजा के फैलाने का कारण मैं ही हुआ और मैं ही इन लोगों को भ्रष्ट करने का अथवा इनके दुर्गति का भी कारण होऊँगा ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसोयथाकुर्वन्तिभारत ॥
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥२५॥

दोहा-जिमि अज्ञानी करत है, फल हित कर्म विशाल ॥
तिमि सज्ञानी करत है, जन संग्रह प्रतिपाल ॥ २५ ॥

टीका-हे अर्जुन ! आत्मतत्त्व को न जानने वाले अज्ञानीपुरुष काम्य कर्म करके प्राप्त होनेवाले पुत्र, धन, स्वर्ग आदि में आसक्त होकर जैसे कर्म करते हैं, उसी प्रकार लोगों की कर्म में प्रवृत्ति होने की इच्छावस ज्ञानी पुरुष भी उक्त कर्मों में आसक्त न होकर

कर्म करैं ऐसा करने से प्राणी स्वयं भवसागर को पार उतर जाता है और लोगों को भी तारता है ॥ २५ ॥

नबुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ॥
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तःसमाचरन् ॥२६॥

दोहा-कर्म सँघाती अबुध बुधि, बुधमति भेद कराव ॥
कर्म करावै तिन्हनि सह, आपुहि करते जाव ॥२६॥

टीका-विद्वान् पुरुष को सावधान होकर उचित हैं कि कर्म में लगे हुये मूर्खों की बुद्धि का भेद न करना चाहिये परन्तु वह आप भी कर्म करते हुए उनको भी कर्म करावैं ॥ २६ ॥

प्रकृतेःक्रियमाणानि गुणैःकर्माणि सर्वशः ॥
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

दोहा-सकल कर्म को करत है, माया गुणरज आदि ॥
अभिमानी हम करत हैं, अस मानहिं ते वादि ॥२७॥

टीका-जिनकी बुद्धि अहंकार से मोहित है वह मूढ़ लोग माया के गुण इन्द्रियादि करके संपूर्ण होनेवाले कर्म को जानते हैं परन्तु हम करते हैं यह अभिमान उनमें रहा है ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ॥
गुणागुणेषुवर्त्तन्त इति मत्त्वा न सज्जते ॥२८॥

दोहा-गुण अरु कर्म विभाग जे, जानत तत्त्व जु कोइ ॥
इन्द्रिय विषयन सो लगी, आपु मगन नहिं होइ ॥२८॥

टीका-इन दोनों के तत्त्व को भलीभाँति जानने वाला ज्ञानी पुरुष नेत्रादि इन्द्रियां रूपग्रहणादि विषयोंमें प्रवृत्त होती है अर्थात् न मैं देखता हूँ, न सुनता हूँ, और न कुछ कर्ताही हूं किन्तु मैं कूटस्थ असंग चिद्रूप आत्मा हूँ ऐसा विचार करके कर्म में आसक्त होता नहीं यही अविद्वान् और विद्वान में भेद है ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु ॥
तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत् २९

दोहा- प्रकृति गुणन संमूढ़ नर, गुण कर्मनि आसक्त ॥
होहि मन्द तेहिं धीर मति, नहिं विचलावैसक्त ॥२९॥

टीका-माया के सत्त्वादि तीनों गुणों से मोहित होकर मूर्खलोग इन्द्रिय के व्यापार में लगे हैं इस लिये विवेकियों को उचित है कि बुद्धि का भेद न करैं ॥२९॥

मयिसर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ॥
निराशीर्निर्ममोभूत्वा युद्धयस्वविगतज्वरः ॥३०॥

दोहा-सकल कर्म मोहिं अर्पिके, शुद्ध बोध हिय राखि ॥
काम रहित ममता रहित, लरहु आपलखिसाखि ॥३०॥

टीका- हे अर्जुन! आप तो अभी तत्त्ववेत्ता हुयेही नहीं हो इस कारण से हम परमेश्वराधीन होकर सम्पूर्ण नित्य नैमित्तिकादिक कर्म करते हुये समस्त कर्म को मेरे हेतु अर्पण करके युद्ध से विजय की आशा छोड़ कर और युद्ध में मरे हुये बन्धुजनों की ममता और शोक रहित होकर युद्ध करो ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठंति मानवाः ॥
श्रद्धावन्तोऽनसूयंतो मुच्यंतेतेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

दोहा—जो नित या मेरे मनहिं, करत न दोष लगाय ॥
श्रद्धा करि मनु राखहिं, सो कर्मन ते छुटिजाय ॥३१॥

टीका-जो मनुष्य मेरे इस मत के अनुसार श्रद्धा पूर्वक और निन्दा रहित होकर चलते हैं वह लोग ज्ञान की नाई कर्म बन्धन से निस्सन्देह छूटते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठंतिमे मतम् ॥
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धिनष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

दोहा-जो निन्दहिं यहिमत मर्महिं करहिं न कबहि अजान ।
सर्व ज्ञानगत मूढ तेहि, नष्ट अचेतन जान ॥ ३२ ॥

टीका-जो लोग इस सर्वोत्तम मतकी निन्दा करते हैं और इसके अनुसार नहीं चलते उनको तुम यह जानो कि वह सम्पूर्ण ज्ञान से रहित मुर्दे की भाँति अविचारी हैं यही ज्ञान रहित होने से निस्सन्देह नष्ट भी हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।३३।

दोहा-निस्वभाव अनुकूल करु, कर्म जो ज्ञानहु कोय ॥
जीव प्रकृति अनुकूल है, निग्रह सों का होय ॥३३॥

टीका-हे अर्जुन ! ज्ञानी पुरुष भी अपनी जाति और पूर्व जन्म स्वभावके अनुरूपही कर्म करता है वैसही सब प्राणी अपने कर्मानुकूल स्वभाव को प्राबल्यता से तदनुसारही वर्त्तते हैं यदि वह यह कहें भी कि हम कुछ करते नहीं हैं तो ऐसे इन्द्रिय निग्रह से क्या होगा ॥ ३३ ॥

इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥३४॥

दोहा-विषयन कोउ नीको लगै, फीको लागै कोउ ॥
इनके बस होव नहीं, यह बटपारे दोउ ॥ ३४ ॥

टीका-प्रत्येक इन्द्रियों को निज २ विषयों के विषे राग और द्वेष अवश्य होते हैं परन्तु वह राग द्वेष इस मुमुक्षु पुरुष को निश्चय करके शत्रु है इस कारण से हे अर्जुन ! उन रागद्वेषरूप शत्रुओं के वशीभूत मत होवो ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

दोहा—भलो निगुन निज धर्म है, सगुन न पर भल धर्म ॥
भलो मरण निज धर्ममो, परधर्महिं नहिं कर्म ॥ ३५ ॥

टीका-हे अर्जुन! अच्छी तरह से आचरणकिये हुये पराये धर्म से अपना धर्म यदि न्यून है तो भी वह कल्याण कारक है, अपने धर्म करके युद्धादिमें मरण भी श्रेष्ठ है परन्तु पर धर्म को कदापि स्वीकार करना नहीं चाहिये कारण कि वह भयावना नरकप्रद है ॥ ३५ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

दोहा—को है जेहि प्रेरण करै, पुरुष पाप प्रति कूल ॥
जौन चहैं तेहि करण तो, बलते कर अनुकूल ॥ ३६ ॥

टीका—उक्त वार्ता को सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण प्रति पूछा कि हे वृष्णिकुलोत्पन्न ? कृष्णजी, जो पुरुष कामादि से इच्छा रहित हैं उनको किसने जबरदस्ती लगे हुये पुरुष की भाँति पाप में प्रवृत्त किया है यह कहिये ? ॥ ३६ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनोमहापाप्माविद्ध्येनमिहवैरिणम् ॥३७॥

दोहा—काम क्रोध बैरी बड़ो, रज पायो है दोउ ॥
महा असन पापी महा, अर्जुन अस जिय जोउ ॥३७॥

टीका—उक्त प्रश्न अर्जुन से सुनकर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि हे अर्जुन! यह कामही क्रोध रूप से उत्पन्न होता है यही काम रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला मोक्ष मार्ग में सर्वभक्षक और महा पापी है इस संसार में मुमुक्षु पुरुष का यह काम प्रचण्ड शत्रु तुम जानो ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽदर्शो मलेन च ॥
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

दोहा—अग्नि ढँकै ज्यों धूम से, दर्पण मल से जान ॥
ज्यो बझरी ढँक गर्भ त्यों, काम ढका यह ज्ञान ॥३८॥

टीका-जैसे अग्नि के साथ ही धूम उत्पन्न होता है परन्तु अग्नि प्रकाशक होने पर भी ढँका रहता है, मल से दर्पण, चमड़ी से गर्भ आच्छादित रहता है उसी भाँति यह काम अप्रकाशक, अचेतन होने पर भी आत्म प्रकाशक चैतन्यरूप इस ज्ञान को आच्छादित करता है ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ॥
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणाऽनलेन च ॥३९॥

दोहा—पार्थ नित्य अरि कामने, ढँक्यो ज्ञानिकर ज्ञान ॥
कामरूप दुष्पूर वह, तापै अनल समान ॥ ३९ ॥

टीका-हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! इस बैरी काम द्वारा ज्ञानियों का ज्ञान घिरा हुआ है और सदैव अग्नि की तुल्य अतृप्त है ॥३९॥

इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

दोहा—इन्द्रियगण मन बुद्धि ये, अहैं काम के स्थान ॥
इन करि मोहैं जीव जग, करि आच्छादितज्ञान ॥ ४० ॥

टीका-इस कामरूप शत्रु के इन्द्रिय, मन बुद्धि यह तीन स्थान रहने के हैं सोई काम इन्द्रियादि के द्वारा पुरुष के ज्ञान को नष्ट करके देहात्म बुद्धि वाले ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही को मोहित करता है ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ॥
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

दोहा—तातें प्रथमहि इन्द्रियन, नियमन करि तुम मीत ॥
पापी ज्ञान विवेक कर, नाशक या कहँ जीत ॥ ४१ ॥

टीका-हे अर्जुन ! यह काम तुमको मोहित न करने पावै उसके पहिले ही इन्द्रियों को विषयों से विमुख करके आत्मविषयक ज्ञान और शास्त्रानुकूल शास्त्रीयज्ञानका नाशक दुष्टकामकोजीतो ॥

इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेःपरतस्तु सः ॥ ४२ ॥

दोहा—इंद्रिय भरण हैं प्रथम बड़, इंद्रिय परम न मानु ॥
मन पर बुद्धि बखानिये, बुद्धि परहि पर जानु ॥४२॥

टीका-हे अर्जुन ! इंद्रिया विषय ग्रहण करने वाली होने पर भी वह विषयों और देहादि से अलग और श्रेष्ठ हैं, मन इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण व प्रकाशक होने पर भी सब इन्द्रियों से अलग व श्रेष्ठ है वैसेही बुद्धि भी मन के निश्चय का कारण व प्रकाशक होने पर भी मनसे अलग और श्रेष्ठ है, जो उस बुद्धि का साची, प्रवर्त्तक प्रकाशक होने से बुद्धि से भी वह अलग व श्रेष्ठ है वही चितानन्द एकरस, अपनी अंतरात्मा है ऐसा तुम जानो ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

दोहा-एसे मतिवर जानिकै, आत्मा करिकै चित्त ॥
कामरूप दुर्धर्ष अरि, जितो महाभुज मित्त ॥ ४३ ॥

टीका-हे महाबाहो ! इस भाँति बुद्धिद्वारा समस्त पदार्थों से अलग शुद्ध आत्म स्वरूप को जानकर निश्चय युक्त बुद्धि करके और मनको निश्चल करके अत्यन्त कठिन कामरूपशत्रु को जीतो ४३

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्री कृष्णार्जुन सम्वादे पं० महाराजदीन दीक्षित कृत भाषा दोहा संकलिते कर्म योगोनाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्याय प्रारम्भः ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

दोहा–दिनमणि प्रति मैं कह्यो, अव्यय योग नरेश ॥
दिनमणि मनुसो कह्यो, इक्ष्वाकुहि उपदेश ॥ १ ॥

टीका—श्रीकृष्णचन्द्र भगवान ने कहा कि यह अविनाशी योग प्रथम हमने सूर्य्य से कहा और सूर्यने मनु से कहा फिर मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु राजा से कहा ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

दोहा– इमि परम्परा करि लह्यो, राजऋषिन बहु जान ॥
भयो नष्ट अब योग यह, गयो काल अति मान ॥२॥

टीका- हे अर्जुन ! इसी भाँति परस्पर एक से एक यह योग चला आता है इसको राजर्षि लोग और राजा लोग जानते रहे हैं परन्तु बहु काल होजाने के कारण असंगत समय आने से मृत-प्राय हो रहा है ॥ २ ॥

स एवायं मयातेऽद्ययोगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोसिमे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

दोहा–सोइ पुरातन यह अहै, अब हम कहा बुझाय ॥
वर रहस्य तुम सन कहौं, सखा भक्त मम भाय ॥ ३ ॥

टीका-वही यह पुरातन कर्म योग और ज्ञान योग तुम को अपना परममित्र और भक्त जानकर मैंने तुमसे वर्णन किया है ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परंजन्मविवस्वतः ॥
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौप्रोक्तवानिति ॥४॥

दोहा—दिनमणि जन्मे प्रथमही, तुम जन्मे अब आय ॥
किमि हम जानै कह्यो तुम, दिनमणि प्रति यह भाय ॥४॥

टीका--श्रीकृष्ण की उक्त वार्त्ता को सुनकर श्री अर्जुन बोले कि-हे भगवन्! सूर्य भगवान का जन्म सृष्टि की आदि में हुआ था और आपका जन्म इस समय हुआ है तो आपने आदिमें सूर्य प्रति किस भाँति इस ज्ञान को कहा ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ॥
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

दोहा—तेरे अरु मेरे जनम, बीते हैं बहुबार ॥
तू जिनको जानत नहीं, मैं जानतु निरधार ॥५॥

टीका-उक्त प्रश्न अर्जुन का सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! आज तक हमारे और आप के बहुत जन्म हुये हैं हम उन सब जन्मों को जानते हैं और हे शत्रुसंतापक! अर्जुन, तुम अज्ञानसे घिरे हुये हो इस कारण से उन जन्मोंकोनहीं जानते ॥५॥

अजोऽपिसन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोऽपिसन् ॥
प्रकृतिं स्वामधिष्ठायसंभवाम्यात्ममायया ॥६॥

दोहा—हौं अविनाशी अज यद्यपि, जक्त ईश जन गेह
तदपि प्रकृत निज लहि लहौं, निज माया कृतदेह ॥६॥

टीका-हे अर्जुन! हम उत्पत्ति रहित अविनाशी और समस्त जीवोंका ईश्वर हूं तिस पर भी मैं अपनी प्रकृति को स्वीकार करके निज माया से उत्पन्न होता हूँ ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ॥
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ७

दोहा—जब जब धर्म छीनता, लहै भरत कुल चन्द ॥
बढ़ै पाप बहु जगत तब, धरौं देह निज छन्द ॥७॥

टीका-हे अर्जुन! जिस २ समय धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है उस २ समय हे भारत! मैं जन्म लेता हूँ ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

दोहा—साधुन के प्रतिपाल हित, अस दुष्टन संहार ॥
धर्म स्थापन के लिए, युग युग धर अवतार ॥८॥

टीका—समस्त साधु महात्माओं की रक्षा के लिये और दुष्टों के नाश करने के लिये तथा धर्मके स्थापन के लिये प्रत्येक युगमें अवतार लेता हूँ ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

दो०-इमि जो जानै तत्त्व से, जन्म कर्म शुभ मोरि ॥
देह त्यागि सो म्वहिं लहै, जन्म न पावै फेरि ॥ ९ ॥

टीका-हे अर्जुन! इस भाँति मेरा उत्कृष्ट जन्म और मुझे यथार्थ रूप से जानता है सोई पुरुष देह को त्याग करके जन्म नहीं ग्रहण करता और वह मुझ में प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ॥
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

दो०—मोचित मोहि आश्रित सदा, रहित राग भयरोष ॥
लहै ज्ञान तपपूत बहु, मम सायुज्य अदोष ॥ १० ॥

टीका--हे अर्जुन ! बहुत से पुरुष प्रीति, भय और क्रोध से रहित होकर मुझ में चित लगा कर मेरे शरण में आकर ज्ञानरूप तप करके पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त भये हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

दोहा—जो जेहि भाव भजै म्वहिं, भजौं ताहि तेहि भाय ॥
मेरोही पथ सब अनुसरै, अर्जुन नर समुदाय ॥११॥

टीका--हे अर्जुन ? जो पुरुष जैसोमेरी उपासना करते हैं उनको मैं वैसाही फल देता हूं कारण कि समस्तलोग इन्द्रादि देवताओं की उपासना करते हैं परन्तु वह मेरीही उपासना करते हैं ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ११ ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ॥
क्षिप्रंहिमानुषेलोके सिद्धिर्भवतिकर्मजा ॥१२॥

दो०— पूजत हैं फलहेतु नर, इन्द्रादिक सुर जूह ॥
लहैं तुरत नरलोक मों, कर्मज फल संमूह ॥ १२ ॥

टीका--इस संसार में जो पुरुष फलकी इच्छा करके अन्य देवताओं का पूजन करते हैं उनको कर्म फलकी सिद्धि निश्चय करके कर्मकेही द्वारा होती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥
तस्यकर्त्तारमपिमां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३॥

दो०—चारो वर्णन को रच्यों, करिगुण कर्म विभाग ॥
मैं याको करतार हौं, तेहि ते मोहिं अनुराग ॥ १३ ॥

टीका--इस संसारमें गुण कर्मके विभागसे मैंनेही चारों वर्णों को रचा है और उसका अविनाशी कर्त्ता भी मैंही हूँ तथापि मुझको अकर्त्ता जानो ॥१३ ॥

न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ॥
इतिमांयोऽभिजानाति कर्मभिर्नसबद्ध्यते॥१४॥

दोहा-कर्म मोको लगत हैं, फलकी नहिं मोहिं चाह ।
इस प्रकार जो मोहिं नित लखैं, कर्म न बांधै ताह॥१४॥

टीका-किसी भी समय मेरी कर्म फल की इच्छा नहीं रहती इसीसे मेरेको कर्म नहीं लिप्त होते हैं इस भाँति जो पुरुष मुझको जानता है सो कर्मों करके नहीं बँधता है ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैःपूर्वतरंकृतम् ॥१५॥

दोहा-जो चाहै यदि मुक्ति को, कर्म करै नित आय ।
ताते तुमहूँ कर्म करि, प्रथमहिं को मत पाय ॥ १५ ॥

टीका-इसी भाँति प्रथम के मनु आदि मुमुक्षुजनों ने उक्तरीति से कर्म किये हैं सो आप भी मुमुक्षुजनों करके किये हुए कर्मही को करो ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ॥
तत्तेकर्मप्रवक्ष्यामियज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् १६

दोहा-कर्म अकर्म कौन हैं, जानत बुधिजन मोहिं ।
मुक्तिहेतु सोइ कर्म करि, कहे देत हौं तोहिं ॥१६॥

टीका-कर्म क्या वस्तु है और अकर्म क्या है इसके जानने में भी पण्डितजन मोह को प्राप्त हो जाते हैं उसीका विभाग मैं तुम प्रति कहूँगा कि जिसको जानकर संसार से मुक्त होवोगे ॥ १६ ॥

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यंचाविकर्मणः॥
अकर्मणश्चबोद्धव्यं गहना कर्मणोगतिः ॥१७॥

दोहा-जानन चहिये कर्मको और विकर्म स्वभाय ।

सुनि अकर्मगति लीजिये, गहन कर्मके दाय ॥१७॥

टीका-करने योग्य कर्म का रूप भी जानना चाहिये वैसेही अकर्म का भी रूप जानना चाहिये और निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा निष्काम कर्म का भी रूप जानना चाहिये हे अर्जुन ! इस भाँति दुर्गम गति होने से कर्म की गति अति दुर्गम है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ॥
सबुद्धिमान्मनुष्येषुसयुक्तःकृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

दोहा-कर्म मध्य जो अकर्मही, देखे कर्म निकर्म ॥
पण्डितजन सब किये हैं, मेटत न मनके मर्म ॥१८॥

टीका-जो प्रारम्भिक कर्ममें आत्मज्ञानको देखै और आत्मज्ञान में कर्मही को हेतु जानैं इस भाँति देखने और जाननेवाले पण्डित ही जन हैं सोई बुद्धिमान और योगी है ॥ १८ ॥

यस्यसर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥१९॥

दोहा-ज्यहि नरके सब आरम्भ निज, बिना हेतु के होत ।
त्यहि को पंडित कहत हैं, दहत कर्मके गोत ॥ १९ ॥

टीका-जिस पुरुष के समस्त लौकिक और वैदिक कर्म कामना (संकल्प) रहित हैं और जिसके बन्धनरूप कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध होगये हैं उसीको विद्वान् लोग पण्डित कहते हैं ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोतिसः॥२०॥

दोहा-जीते इन्द्रिय देह मन, कर्म सुपरिग्रह जाहि ।
देह कार्य कर्मनि करत, पाप न लागत ताहि ॥२०॥

टीका-जो पुरुष कर्मों की और कर्म फल की आसक्ति छोड़ कर नित्य तृप्त रहता है ऐसे अपने शरीर के लिए किसी का आ

श्रय न करने वाला पुरुष कैसे ही कर्म में प्रवृत्त हुआ हो तो भी वह कुछ नहीं करता है यानी उसका किया हुआ कर्म उसका बन्धक होता ही नहीं है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मात्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

दो०—काम परिग्रह रहित जो, नियत चित्त तन जासु ॥
केवल दैहिक कर्म कुरु, लगै न किल्बिष तासु ॥ २१ ॥

टीका—जिस पुरुषकी कामनायें नष्ट होगई हैं और उपाधि युक्त वस्तुओं तथा कर्मों को त्याग कर दिया है ऐसा पुरुष निर्वाह के लिये कर्म करे तो वह पुरुष उस कर्म से संसार का बन्धन नहीं पाता है ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समःसिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपिननिबद्धयते।२२।

दो०—यथा लाभ संतुष्ट नर, द्वन्द्व न मत्सर दोय।
सम ह्वै सिद्ध असिद्ध महँ, कियेहु बन्ध नहिं होय॥२२॥

टीका—जो पुरुष सुख दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करने वाला, वैर बुद्धि रहित सर्वत्र दृष्टि रखने वाला दैवेच्छा से जो कुछ प्राप्त होगया उसीमें संतोषी हर्ष विषाद रहित होकर यदि स्वाभाविक काम करै तो भी वह उसमें बँधता नहीं है ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ॥
यज्ञायाचरतःकर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

दोहा—रहित कामना मुक्त जे, ज्ञानचित्त अव्यग्र।
परमेश्वर हित लोक हित, कर्म विलीन समग्र ॥२३॥

टीका—जो पुरुष रागादि से रहित और युक्त हैं उसी भाँति ज्ञानमें चित्त स्थिर रहता है और ईश्वराराधनके लिये यदिकर्मकरता है सो वासना सहित संपूर्ण कर्मों से मुक्त होजाता है ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

दोहा—होम अग्नि हवि ब्रह्म है, अर्पै ब्रह्महि जानि ॥
जाइ ब्रह्ममें सोरहै, कर्म समाधिहि ठानि ॥ २४ ॥

टीका—जो पुरुष होमके पात्र और द्रव्य घृतादि अग्नि हवन कर्त्ता, क्रिया और समस्त वस्तु को ब्रह्महीं जानता है उसको ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई वस्तु प्राप्त करने के योग्य नहीं है ॥ २४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ॥
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दो०—इतर कर्म योगी यजैं, इन्द्रादिक सुर बीर ।
ज्ञानी हू ब्रह्माग्नि महँ, यज्ञहिं करि कै धीर ॥ २५ ॥

टीका—कितनेही कर्मयोगी गृहस्थाश्रमी इंद्रादि देवताओं को ही मुख्य मानकर श्रद्धा पूर्वक उनकाही पूजन करते हैं और कितनेही ज्ञान योगी (संन्यासी) सर्वत्र ब्रह्मभावको धारणकरके ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञस्वरूप परमात्मा का यजन(पूजन)करते हैं॥ २५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषुजुह्वति ॥
शब्दादीन्विषयानन्ये इंद्रियाग्निषुजुह्वति॥२६॥

दो०—एक जु होमत इन्द्रियन, संयम अग्नि स्वरूप ।
विषयनि होमत एक है, इन्द्री अग्नि अनूप ॥ २५ ॥

टीका-नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुरुष श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंको संयम रूपी अग्निमें लय करते हैं और गृहस्थाश्रमी शब्दादि विषयोंको इन्द्रियादि अग्नि रूपी अग्निमें लय करते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ॥
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वतिज्ञानदीपिते ॥२७॥

दो०—गोगण पवन क्रिया सकल, हव्य प्रकाशित ज्ञान ॥
आत्म ध्यान स्थिरता अनल, ध्यानी मष यह जान ॥२७॥

टीका—ध्यानावस्थित लोग सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यवहार को निज २ ग्राहक इन्द्रियों में अर्पण करके मनकी एकाग्रता रूपी अग्नि में जो ज्ञान से प्रकाशित है उसमें लय करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ॥
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्चयतयःसंशितव्रताः ॥ २८ ॥

दो०—दान यज्ञ तप यज्ञ को, योग यज्ञ कोउ आहि ।
वेदपाठ मति अर्थ मष, यती कठिन व्रत जाहि ॥ २८ ॥

टीका—कोई तो द्रव्य से यज्ञ करता है, कोई तपसे, कोई योगाभ्यास से, कोई वेद पाठ और मन रूपी यज्ञ से उपासना करते हैं परन्तु यती लोग अपने स्वभावसे निश्चित होकर उपासना करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ॥
प्राणापानगती रुध्द्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

दो०—प्राण अपानहिं होमहीं, औ अपानमधि प्रान ॥
तत्पर प्राणायाम गति, रोकि सु प्राण अपान ॥ २९ ॥

टीका—कितनेही एक प्राणायाम में तत्पर योगी जन अपान वायु को पूरक मार्ग से लय करते हैं, कोई प्राणके अपान को रेचक मार्ग से लय करते हैं, और कोई प्राण व अपान की गति कुम्भक से रोक कर प्राणायाम शील होते हैं ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

दो०—अपर नियत आहार करि, मषकरि अजपा जाप ॥
यह सब कर्ता यज्ञके, यहि करि नाशय पाप ॥ ३० ॥

टीका—कितने एक योगीजन धीरे २ थोड़ा भोजन करके

कुम्भकसे प्राण और अपान की गति को रोक कर समस्त इन्द्रियों में उन २ इन्द्रियोंकी वृत्तियों को होमते हैं हे अर्जुन ! यह सभी लोग यज्ञवेत्ता यज्ञ कर पापके नाश करनेवाले हैं ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

दोहा—ब्रह्म सनातन लहहि जे, मख शेषामृत खांहि ॥
और अयज्ञन कह कहाँ, यह नरलोकहु नाहिं ॥ ३१ ॥

टीका—हे अर्जुन! यज्ञ से बचा हुआ अमृतरूप अन्न खानेवाले हैं वही सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और जो पुरुष यज्ञ नहीं करते उन्हें तो यह लोकही नहीं प्राप्त होता तो परलोक को कौन कहै ॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ॥
कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवंज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।३२।

दो०—इमि अनेक विधि यज्ञ हैं, कहैं प्रगट सब वेद ॥
सकल कर्मते जानि यहि, होहु मुक्त गत खेद ॥ ३२ ॥

टीका—इस भाँतिके यज्ञ वेदमें अनेक प्रकारके कहे गये हैं उन सबको यज्ञ मन, वाचा और कर्म से उत्पन्न जानो कारण कि परमेश्वर के ज्ञान मात्र बल गोचर है और यज्ञ चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान उपयोगी जानकर संसार से मुक्त होवो ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ॥
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

दो०—सकल यज्ञते बड़ो है, ज्ञान यज्ञ मोहि भाय ॥
सर्व कर्म फल रहित ते, ज्ञानहिं माहिं समाय ॥ ३३ ॥

टीका—हे अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है कारण कि सम्पूर्ण कर्म फल सहित यज्ञ ज्ञान यज्ञही में अन्त समय आकर समाप्त होते हैं ॥

तद्विद्धिप्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेक्ष्यंतितेज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥३४॥

दोहा-विनय प्रश्न सेवा किये, अर्जुन सोइ जान ॥
तत्त्वदर्शि ज्ञानी तुमहिं, उपदेशहिं इमिमान ॥३४॥

टीका--हे अर्जुन ! सदैव ज्ञानही के विचार में प्राप्त रहने वाले गुरुकी शरण में जानकर साष्टाङ्ग दण्डवत, भक्ति श्रद्धा युक्त सेवा करके जन्म मरण का कारण, माया, अमाया के लक्षण, आत्मा का परमात्मा का भेद, एकता तथा मोक्ष कैसा होता है इस भाँति के अनेक प्रश्न करनेसे वह योग्य गुरुतुमको ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ॥
येनभूतान्यशेषेणद्रक्ष्यस्यात्मन्यथोमयि॥३५॥

दोहा-जाहि जानि पुनि मोह इमि, अर्जुन पावहु नाहिं ॥
जेहि करि सब जीव लखौ, आत्मा ईश्वर मोहिं॥३५॥

टीका--हे अर्जुन ! जिस ज्ञान को तुम पाकर फिर ऐसे मोह को नहीं प्राप्त होवोगे और ज्ञानके द्वारा मायारचित ब्रह्मसे लेकर तृण पर्यन्त सब भूतों को निज आत्माही में देखोगे और उन भूतोंके सहित अपनी आत्मा को भी परमात्मा परब्रह्मरूप मेरे स्वरूप में देखोगे ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः॥
सर्वंज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

दोहा-यद्यपि सब पापिन महँ, तुम पापिन शिरताज ॥
तदपि दुःख सागर तरौ, ज्ञान जहाज विराज ॥ ३६ ॥

टीका-यद्यपि समस्त पापियों के मध्य में तुम अति पाप करने वालेहो तोभी ज्ञानरूप नौका में चढ़कर पापरूपी दुस्तर समुद्र से पार सहज में जाओगे ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

दोहा-जिमि बहु कठिन दहत है, पावत परम प्रकाश ॥
ज्ञान अनल तिमि कहत है, सकल कर्म को नाश ॥३७॥

टीका--हे अर्जुन ! जिस भाँति जलती हुई अग्नि काष्ठ के ढेर को भस्म करती है उसी भाँति ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म (नाश) करती है ॥ ३७ ॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥३८॥

दोहा-ज्ञान सदृश पावन परम, जग नाहिन कोउ आन ॥
कर्मयोग करि बहु दिननि, लहै विना श्रम ज्ञान ॥३८॥

टीका--इस लोक में तपादि साधनों में ज्ञान के समान दूसरा पवित्रसाधन कुछभी नहीं है वह आत्म विषयक ज्ञान बहुत समय तक किये हुये कर्मयोग से सिद्ध हुये पुरुष के अन्तःकरण में विना यत्न के अपने आपही प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

दोहा-श्रद्धायुत इन्द्रिय जिते, तत्पर ज्ञान सो पाय ॥
ज्ञान पाय लघुकालसों, मोक्ष धाम मिलजाय ॥ ३९ ॥

टीका--गुरुके उपदेश किये हुये वाक्य में श्रद्धायुक्त श्रद्धावान विचार शील और इन्द्रियों को वशमें किये हुये ऐसा पुरुष ज्ञान को प्राप्त होनेसे परम मोक्षको पाता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

दोहा–जो मूरख श्रद्धा रहित, संशय युत विनशाहि ॥
नहिं परलोकन लोक यह, नहिं सुख संशय जाहि ४०

टीका--जो गुरु के किये हुए उपदेश जन्य ज्ञान को न जानने वाला गुरु के वचन पर विश्वासहीन तथा फल प्राप्ति के विषय में संशय मानने वाला पुरुष स्वार्थसे भ्रष्ट होता है और उसको न तो इस लोक की प्राप्ति होती है न परलोक की और न उसको सुख की ही प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ॥
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नांति धनंजय ॥४१॥

दोहा–सकल कर्म अर्पहि प्रभुहि, ज्ञान छिन्न सन्देह ॥
आतम ज्ञानिहि नहिं लगै, कर्म रहित फल नेह॥४१॥

टीका--हे धनञ्जय ! अर्जुन--जो पुरुष योगाभ्यास से समस्त कर्मोंको ईश्वरही में अर्पण करता है और ज्ञान से जिसने संशय को नाश किया है वही विवेकी पुरुष अपने कर्मफलों से बन्धन में नहीं पड़ता है ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽत्मनः ॥
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

दोहा–ताते सुम अज्ञान भव, हिय संशय करि छेद ॥
ज्ञान खड्ग लेहि योग लहु, लरहु रहित सब खेद ॥४२॥

टीका--हे अर्जुन ! जो अज्ञानता से उत्पन्न हुआ हृदय में स्थित अपने आत्मा के संशय को ज्ञानरूपी तरवार से काटकर योग को प्राप्त होवो आर युद्ध के लिये उठो ॥ ४२ ॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे पं० महाराजदीन दीक्षित कृत भाषा दोहा व्याख्यान्वितायां कर्मसन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ॥
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

दोहा—कर्म योग संन्यास पुनि, कहौ कृष्ण तुम दोय ॥
इन दूनों में भल एक जो, कहिये सुनिश्चय सोय ॥१॥

टीका--श्रीकृष्णचन्द्रजी के वाक्य को सुनकर अर्जुन बोले कि हे कृष्ण ! कर्म संन्यास और कर्म की श्रेष्ठता वर्णन करते हुए मुझे कर्म करने के लिए आपने प्रेरणा किया तो उक्त दोनोंमें से जो एक परम कल्याणप्रद होवै वही साधन निश्चय पूर्वक मुझ प्रति कहिये ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

दोहा—कर्म योग संन्यास दोउ, देहिं मोक्ष अनुकूल ॥
तदपि कर्म सन्यास ते, कर्म योग सुख मूल ॥२॥

टीका-- उक्त प्रश्न अर्जुन का सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा कि-हे अर्जुन ! कर्म का त्याग और कर्म योग यह दोनोंही कल्याण कारक हैं परन्तु इन दोनों में से कर्मयोग श्रेष्ठ जानो ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥३॥

दोहा—रागद्वेष अतीत चित, कर्म करै हरि हेतु ॥
द्वन्द रहित संन्यास नित, छुटै बंध कपि हेतु ॥ ३ ॥

टीका--हे अर्जुन ! जो पुरुष राग और द्वेष को समान जानता

है उसको नित्य संन्यासी जानो कारण कि अद्वैत ही सांसारिक बन्धन से सुखपूर्वक मुक्त होता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः ॥
एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

दोहा—कर्म योग संन्यास पुनि, भिन्न कहैं ते बाल ॥
एक किये फल दुहुन कर, पावत बोध मराल ॥ ४ ॥

टीका—कितनेही एक वेदान्त शास्त्र के अर्थ तत्त्व को न जानने वाले विद्वान् पुरुष ज्ञानयोगरूपी (सांख्य) कर्म संन्यास और कर्म योग को परस्पर भिन्न कहते हैं और वेदान्त शास्त्र में निपुण विद्वान् ऐसा नहीं कहते कारण कि उक्त दोनों योगों में से एकके भी साधन से उन दोनों फल (मोक्ष) प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैःप्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
एकंसांख्यं च योगं च यःपश्यतिसपश्यति॥५॥

दोहा—जो योगहिं सो सांख्य में, जो सांख्यहिं सो योग ॥
सांख्य योग एकहि लखै, वाकी आँख निरोग ॥ ५ ॥

टीका—जो कैवल्य रूपी स्थान कर्म संन्यासी पाते हैं वही कर्म योगी भी पाते हैं इस कारण से जो पुरुष कर्म संन्यास और कर्म योग को एकही देखता है उसी का देखना ठीक है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ॥
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

दो०—लहत संन्यासहि दुःख सों, बिन कर्मनि रे मित्त ॥
योग युगति जे करत हैं, लहैं ब्रह्म निह चित्त ॥ ६ ॥

टीका—हे अर्जुन ! बिना कर्मयोग साधन किये कर्म संन्यास दुःख प्राप्ति के लिये है और जो मौन धारण करके संन्यास का आश्रय करेगा सोई पुरुष थोड़े ही समयमें ब्रह्म को प्राप्त हो जावैगा

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ॥
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

दो०—जो योगी इन्द्रिय जयो, मन बुद्धि मह नहिं बेप ॥
सर्व जगत ईश्वर मयी, कर्म करै नहि लेप ॥ ७ ॥

टीका—जो पुरुष योगाभ्यास करके शुद्ध भाव से बुद्धि और मनके द्वारा इन्द्रियों को वशमें करके ईश्वर को सर्व व्यापक जान कर कर्म करता है सोई कर्म फल से बँधता नहीं है ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ॥
पश्यंछृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्छ्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तंत इति धारयन् ॥९॥

दो०—मैं न करौं कछु मानि अस, युक्त तत्त्वविद् तात ॥
देखत सुनत शयन चलत, परसत सूँघत खात ॥ ८ ॥
कहत गहत मूँदत तजत, उघरत महँ मतिमान ॥
इन्द्रिय इन्द्रिय विषय महँ, रहैं सदा यह मान ॥ ९ ॥

टीका-कर्म योग से युक्त हुआ पुरुष क्रमसे देखना सुनना स्पर्श करना, सूंघना, खाना, चलना, सोना, लेना, बोलना, मल मूत्रको त्याग करना, हाथ से देना लेना, और आँखों का खोलना तथा बन्द करना इत्यादि जो कुछ कर्म करता है तो भी यह इन्द्रियां अपने आपही विषयों में प्रवृत्त होकर करती हैं ऐसा जो पुरुष निश्चय करके जो मैं कुछ भी नहीं करता हूँ इस भाँति अभिमान रहित होकरके समझता है वही उस कर्म से लिप्त नहीं होता है ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः ॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

दो०—कर्म अर्पि परमेश्वरहि, फल तजि करै सुधारि ।
पाप पुण्य तेहि नहिं लगै, पद्मपत्र जिमि वारि ॥१०॥

टीका-जो पुरुष कर्मफल की आशा को छोड़ कर समस्त कर्म ब्रह्मार्पण करके नित्य नैमित्तिक कर्म करता है वही पुरुष-जैसे:-कमल पत्र (पुरैनका पत्ता) जलमें ही रहते हुये भी जल से लिप्त नहीं होता उसी भाँति वह भी शुभ अशुभ अनेक प्रकार के कर्मों से लिप्त नहीं होता है ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ॥
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

दोहा—तनकरि मनकरि बुद्धिकरि, अरु इन्द्रियहूँ कीन ।
आत्म शुद्धि हित कर्मकरि, योगी होइ न लीन ॥११॥

टीका-शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियादि द्वारा जो २ कर्म है उनमें फलकी इच्छा छोड़ कर योगी लोग चित्त शुद्धि के हेतु कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तःकर्मफलंत्यक्त्वा शान्तिमाप्नोतिनैष्ठिकीम्
अयुक्तःकामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥१२॥

दोहा—ज्ञानी मुक्तिहि को लहै, कर्म करहि फल छाँड़ि ॥
मूरख फलकी आसकरि, बँधत कामना आड़ि ॥१२॥

टीका-परमेश्वर के आराधन में तत्पर होकर कर्म फल की आशा छोड़ कर्म करने से पुरुष शांति को प्राप्त होते हैं और जो पुरुष कर्म के फल की आसक्ति युक्त हैं वह उसी में बँधे रहते हैं ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन् ॥१३॥

दोहा—मनकी कर्मनि जे तजत, ज्ञानी तिनको जानि ॥

नव द्वार पुरमें बसत, लेत सुखनि की खानि ॥ १३ ॥

टीका-जो पुरुष समस्त कर्मों को मनसे त्याग करके चित्त को जीत कर सुख पूर्वक रहता है और नवद्वार से युक्त शरीर में बसता हुआ देही (जीव) न आप कुछ करता है न कुछ कराता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

दोहा—ईश करावत कर्म नहिं, नहीं रचत करतार ॥
नहीं कर्मफल योग को, करत प्रकृति विस्तार ॥ १४ ॥

टीका-सर्वव्यापी, परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर जीव को किसी कर्म में प्रवृत्त (यह तू कर) नहीं करता और किये हुये कर्म से उत्पन्न पाप पुण्य रूप कर्मों के फलों को नहीं रचता उसी भाँति उन कर्मों का संगी भी नहीं होता परन्तु जीव के स्वभाव को अविद्या के द्वारा समस्त कर्मों में प्रवृत्त करता है ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ॥
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः ॥१५॥

दोहा—सुकृत पाप नहिं काहुको, वह हरि पूर्ण अतीव ॥
ज्ञान छिपे अज्ञान कर, लहै मोह ते जीव ॥ १५ ॥

टीका—परमेश्वर किसी को न पाप देता है न पुण्यही परन्तु ज्ञान रूपी सूर्य अज्ञान से छिपा है इस कारण से जीव आपही मोह को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

दोहा—ज्ञानहिते अज्ञान सब, जिनको पावत नाश ॥
ब्रह्म प्रकाशै ज्ञान तब, जिमि रविकर परकाश ॥ १६ ॥

टीका-जिस पुरुष का अज्ञान ज्ञानरूपी सूर्य से नष्ट होगया है उसीका ज्ञान परमेश्वर परमात्मा का प्रकाशक है जैसे सूर्य भगवान् अन्धकार को नाश करके समस्त पदार्थों को प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः॥
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

दोहा–जो जन हरिमत हरिहि रति, हरि तत्पर हरि ऐन ॥
हरि दाया लहि बोधपर, लहैं मुक्ति हिय सैन ॥१७॥

टीका-जो ज्ञानी पुरुष परमात्माही में अपनी बुद्धि स्थिर करते हैं और उसीमें मन लगाकर उसी में निष्ठा रखते हैं और उसीका आश्रय करके परब्रह्म परमात्मा में निमग्न रहते हैं वही पुरुष निष्पाप होकर जन्म मरण रहित होकर मुक्ति को पाते हैं ॥१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी॥
शुनि चैव श्वपाके चःपंडिताः समदर्शिनः॥१८॥

दोहा–विद्या विनय समेत द्विज, गो गज श्वान स्वपाक ॥
सम देखहिं ते धीर नर, लह्यो ज्ञान परिपाक ॥ १८ ॥

टीका-परमेश्वर को सर्वव्यापी जानने वाला विवेकी पुरुष विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, चमार कुत्ता गऊ और हाथी में भेद नहीं जानता वह सदैव सबको समानही जानता है ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः॥
निर्दोषंहि समंब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणितेस्थिताः॥१९॥

दोहा–जिन मनमें समता लहै, तिन जीत्यो संसार ॥
दोष रहित सम ब्रह्म है, ब्रह्मलीन निरधार ॥ १९ ॥

टीका-जिन पुरुषों का मन स्वाधीन है वही इस संसार में जीतेही हुये जगत् को उन्होंने जीत लिया है कारण कि

जिन की दृष्टि में ब्रह्म निर्दोष और सम है वह अवश्य ब्रह्मभाव को प्राप्त हैं ॥ १९ ॥

नप्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्यचाप्रियम् ॥
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

दोहा—नहिं प्रिय लहि हर्षै सुजन, नहिं अप्रिय लहि शोक ॥
स्थित मति ते नर ब्रह्मवित, बृह्म तासु पर लोक ॥२०॥

टीका-जो पुरुष प्रिय और अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने में हर्ष और शोक को नहीं प्राप्त होता उसी की निश्चल बुद्धि है इसीलिये वह ब्रह्मभाव को प्राप्त है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्माविन्दत्यात्मनियत्सुखम्
सब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

दोहा—बाहर के सुख को तजै, हिय सुख लहै अमोल ॥
बृह्म विषे चितको धरत, ताकर सुख नहिं डोल ॥ २१ ॥

टीका-बाहर के विषयादि भोगों में चित्तको लगायेहुए पुरुष जो अपने सुख का अनुभव करता है उससे बढ़ कर समाधिस्थ पुरुष को सुख प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ॥
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

दो०—विषय जिते हैं संसार के, ते हैं दुख के मूल ॥
उपजत बिनसत हैं तिन्हैं, पंडित गनैं न भूल ॥ २२ ॥

टीका-इसलिये इन्द्रियों के परस्पर संयोग से जितने विषय सुख उत्पन्नहोने वाले हैं वह सभी नाशवान हैं और वह निरन्तर दुःखप्रद हैं इस कारण से हे अर्जुन ! उक्त भोगों में ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष आनन्द को नहीं मानते हैं ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राकूछरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं संयुक्तः स सुखी नरः॥२३॥

दो०—तिय भेटै जारै तनय, जिमि सब काम न रोष॥
तिमि जीयत जो होय सोइ, मुक्त सुखी निर्दोष॥ २३॥

टीका—जो पुरुष इस जन्म में देहपात होने के प्रथमही काम और क्रोध के वेग को सहन कर सकता है वही मनुष्य योगी और सुखी है॥ २३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः॥
सयोगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥२४॥

दो०—जो योगी अन्तहि सुखी, अरु है आत्माराम॥
ब्रह्म लहै पुनि नहिं दुखी, ब्रह्मभूत निष्काम॥ २४॥

टीका—जो पुरुष निष्पाप होकर शुद्धचित्त होनेसे संशय रहित हुए हैं और सर्व लोगों का हित करने में दयालु होते हैं वही संन्यासी विदेह मुक्तिरूप सुख को पाते हैं॥ २४॥

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः॥
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥२५॥

दो०—गत कल्मष ऋषि जन लहैं, पार ब्रह्म निर्वान॥
रहित भेद सेयत संचित, सर्व भूत हितमान॥ २५॥

टीका—जिनका कल्मष और भेद बुद्धि दूर होगई है वही ऋषि निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हुये हैं कारण कि उनके बस में मन है और सबके हितका आचरण करते हैं॥ २५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥२६

दो०—काम क्रोध मन जीतकर, है संसार वियुक्त॥

काम्य कर्म सब त्यागिकर, योगी जीवन्मुक्त ॥ २६ ॥

टीका-काम क्रोध से रहित नियमपूर्वक चित्तको संचालन करने वाले पुरुष परमेश्वर को यथार्थ रूपसे जानते हैं वही निर्वाण ब्रह्मको भी प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वाबहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः॥
प्राणापानौसमौकृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ २७
यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥२८॥

दो०-सब विषयन तजि बाहरे, भ्रू बिच दृष्टि सुधारु ॥
सम करि प्राण अपान दुहु, नासाभ्यन्तर चारु ॥२७॥
जो जित इन्द्रिय बुद्धिमन, मोक्ष परायण युक्त ॥
नहिं इच्छा भय क्रोध जन, सोई जीवन मुक्त ॥ २८ ॥

टीका-जो मोक्ष की इच्छा करनेवाला पुरुष अपनी आत्मामें बाहरी मिथ्या विषयों को मानकर उनको बाहरही त्यागकर दृष्टि को दोनों भौंहोंके मध्यमें लगाकर नाकमें चलने वाली प्राण अपान वायुको कुंभक प्राणायाम के साधन विधि से इन्द्रिय मन, बुद्धिको जीत लेता है वही पुरुष इच्छा, भय, क्रोध इन पाशोंसे मुक्त होकर वह जीतेही जी मुक्त है ॥ २७ ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ॥
सुहृदंसर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति॥२९॥

इति श्रीमद्० कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

दो०-तप यज्ञन कर भोगता, सब लोकन को ईश ॥
शान्त लहै जो जानिकर, मोको प्रभु जगदीश ॥ २९ ॥

टीका-जो पुरुष मुझ को तप, यज्ञ का अनुभव करने वाला

समस्त जगतका ईश्वर और हितकारी जानता है सोई शान्तिको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

इति श्री मद्भगवतगीतायां श्री कृष्णार्जुन सम्वादे पं० महाराजदीन दीक्षित कृत भाषा दोहा व्याख्या कृत कर्म संन्यास योगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः प्रारम्भः ।

* श्रीभगवानुवाच *

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ॥
ससंन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः॥१॥

दो०—आवश्यक कर्मनि करै, तजै कर्म फल आस ॥
संन्यासी योगी सोई, अनकीने कृत नास ॥ १ ॥

टीका—श्रीकृष्णचन्द्रजी भगवान् ने कहा कि—हे अर्जुन ! जो मोक्ष की इच्छा रखने वाला पुरुष कर्मों के फल की इच्छा न रख के आवश्यक वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म करता है वही कर्मसंन्यासी है और जो अग्निहोत्र से सिद्ध होने वाले इष्ट कर्म तथा पूर्त (बावली-कुवां-तालावादि) नहीं करता वह पुरुष संन्यासी और योगी भी नहीं है ॥ १ ॥

यं संन्यासमितिप्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ॥
नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥२॥

दोहा—कर्म योग संन्यास यह, अर्जुन दो समयोग ॥
सर्व वासना त्याग बिन, नहीं योग नहिं भोग ॥२॥

टीका—हे अर्जुन ! कर्म फल की इच्छा का त्याग करना वही संन्यास कहाता है और यही हेतु कर्म योग में भी है इसी कारण से उस संन्यास हीको कर्मयोग कहते हैं कारण कि ज्ञाननिष्ठ हो अथवा कर्मनिष्ठ हो फल की इच्छा न त्याग करने वाला पुरुष कदापि योगी नहीं हो सक्ता है ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ॥
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

दोहा—चढ़न चहै पद योग जो, तिनके कारण कर्म ॥
कारण योगारूढ़ के, कहिए सम कर सर्म ॥ ३ ॥

टीका—ज्ञान के प्राप्ति की इच्छा करने वाले मननशील मनुष्य को मन की शुद्धि से कर्म कारण कहलाता है और समाधिस्थ पुरुष को इन्द्रिय का निग्रह कारण होता है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ॥
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

दोहा—कर्म अरु इन्द्रिय विषय में, जब होवै निष्काम ॥
नहीं कामना चित्तमें, तब यह पूरण काम ॥४॥

टीका—समस्त विषय भोग और संपूर्ण कर्मों के सङ्कल्प का त्याग किये योगी पुरुष इन्द्रियादि से ग्राह्य शब्दादि विषयों में तथा उनके सम्पादन साधनभूत कर्मों में भी आसक्त नहीं होता उसी समय वह योगी योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
आत्मैवह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

दोहा—करि मति आपहु उद्धरहु, जनि बोरहु पुनि आपु ॥
आपुइ आपन बन्धु है, आपु आपु रिपु पापु ॥५॥

टीका-इस हेतु से विचार शील मुमुक्षु पुरुष अन्तःकरण शुद्धिद्वारा अपना संसार से उद्धार करै अर्थात् जन्म मरण से उद्धार करे, अपने को अधोगति न पहुँचाना चाहिये अहो! अपने को मुक्त करने के विषय में अपना मनही बन्धु है वैसेही अधोगति लेजाने में शत्रुरूप है ॥ ५ ॥

बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः॥
अनात्मनस्तुशत्रुत्वे वर्तेतात्मैवशत्रुवत् ॥६॥

दोहा–जिन जीत्यो यह अजित मन, तिनकर है यह मित्त॥
जो जीत्यो नहिं याहि तन, सोई रिपु सम चित्त ॥ ६॥

टीका-जिस जीवात्माने विवेक रूपी बुद्धि द्वारा मन को जीत लिया है उसी जीवात्मा का मन बन्धु समान हितकारी है और जिसने अपने मन को नहीं जीता उस अनात्मा का मनही अकल्याण कारक शत्रु समान है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मासमाहितः॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥७॥

दोहा-जीत्यो आपुहि शान्ति जो, तासु हृदय करि स्थान॥
शीत उष्ण सुख दुःख सम, तथा मान अपमान ॥ ७॥

टीका-सुख दुःखादि द्वन्द्वों के प्राप्त होने पर जिसने अपने मन को जीत लिया है और इसी कारण से राग द्वेषादिसे रहित हुआ पुरुष का परमात्मा (अन्तरात्मा) आत्मनिष्ठ होता है ॥ ७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः॥
युक्तइत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः॥८॥

दोहा-अनुभव ज्ञान सुतृप्त चित, इन्द्रिय वृत्ति बिलानि॥
कहिये योगी युक्त तेहि, सम मृद हेम पखानि ॥ ८॥

टीका-ज्ञान और विज्ञान से जिसका मन निराकांक्षित विकार से रहित जितेन्द्रिय है सोई योगी यदि लोह, पत्थर और सोना व मिट्टी को समान जानै तो योग्य कहलाता है ॥ ८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९॥

दोहा-सुहृद सखा अरु बन्धुजन, उदासीन मध्यस्थ ॥
　　द्वेष्य साधु अघते बड़ो, जो इन सबनि समस्थ ॥ ९ ॥

टीका०-जो पुरुष इष्ट, मित्र और शत्रु से उदासीन द्वेषी और बन्धु का मध्यस्थ है, साधु और पापी को समान देखता है सो सम बुद्धि कहलाता है ॥ ९ ॥

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

दो०--बैठि अकेला एक चित, योगी साधै योग ॥
　　एकाकी चाहै न कछु, जोरै नहिं सुख भोग ॥ १० ॥

टीका-योगारूढ पुरुष आकांक्षा और प्रतिग्रह को छोड़ कर शरीर और चित्त दोनों को स्वाधीन करके एकान्ति में अकेला होकर सदा मन को नियुक्त करै ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनःकृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

दोहा-स्थिर चित योगी आत्महित, शुचि स्थल देखि समान ॥
　　कुशा अजिन केवल उचित, यह आसन विधि जान ॥
　　ऐसे आसन बैठि मुनि, आत्मा शुद्धि के हेत ॥
　　थिर चित इन्द्रिय मनहुँ पुनि, योग करे हरि चेत ॥

टीका-हे अर्जुन ! अत्यन्त पवित्र जो अत्यन्त ऊँचा या अत्यन्त नीचा नहीं ऐसे स्थान में सब के नीचे कुशासन बिछाय उसपर व्याघ्रादि योग्य चर्म बिछाकर उसके ऊपर कम्बलादि रख कर इधर उधर हलचल न करना पड़े ऐसा अपने लिये आसन लगाकर उसपर स्वस्थ चित्त बैठकर एकाग्रमन करके मन व्यापार

और इन्द्रिय व्यापार को जीते हुये योगी पुरुष अन्तःकरण के शुद्धि के लिये योग साधन का अभ्यास करैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः॥
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् १३
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः॥
मनःसंयम्यमच्चित्तोयुक्त आसीत मत्परः॥१४॥

दोहा-सम करि तन शिर ग्रीवनर, अचल आप स्थिर होय ॥
निरखि नासिका अग्र निज, नहिं चितवै दिशि कोय ॥
शान्त चित्त निर्भय हृदय, ब्रह्मचर्य ब्रत सोय ॥
करि मन संयम युक्तजन, मोचित मोहित होय ॥ ४ ॥

टीका-शरीर, मस्तक, कण्ठ को समान और अचल धारण करके किसी भी दिशा को न देखता हुआ केवल नाशिका के अग्रभाग में दृष्टि को लगा कर आसन पर स्थित होवै। शान्त आत्मा और भय रहित होकर ब्रह्मचर्य ब्रत द्वारा मेरी ओर मन लगा कर मुझे ही परम पुरुषार्थ समझ कर मन को योग में लगावैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः॥
शान्तिनिर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

दोहा-इहविधि कर जु योग विधि, निज मनको स्थिर राखि॥
शान्ति लहै मोको मिलै, रहै अमिय सुचाखि ॥१५॥

टीका-इस रीति से चित्त को निरोध करने वाला योगी निरन्तर मुझ विषे चित्त की याचना करने से परम पुरुषार्थ रूप मुझ में स्थिर रहनेवाली शान्ति (संसार निवृत्ति) को पाता है ॥१५॥

नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥

दोहा—बहु भोजन ते योग हत, बिन भोजन नहिं सोय ॥१६॥
बहु सोये हत योग है, नहिं बहु जागे होय ॥ १६ ॥

टीका-हे अर्जुन ! बहुत खाने वाला, भोजन न करने वाला; बहुत सोने और जागने वाला पुरुष योगाभ्यास के लिये योग्य नहीं है ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ॥
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥

दो०-युक्त अहार विहार पुनि, कर्म युक्त जो होय ॥
सोवत जागत युक्त मुनि, दुःख मुक्त सो होय ॥ १७ ॥

टीका—जो पुरुष आहार विहार और कर्म में प्रयत्न करता है निद्रा, जागरण समान जानता है वही पुरुष संसार रूप दुःख को दूर करनेवाले योग को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ॥
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यतेतदा ॥१८॥

दो०--जब संयत चित लक्ष्य मों, लहै अचल स्थिति जेहि ॥
सकल कामना ते रहित, कहिय युक्त जन तेहि ॥१८॥

टीका-जिस समय योगी अपने में चित्त लगाकर समस्त संसारी कामों से रहित रहेगा तभी वह योगाभ्यासी पुरुष योग्य कहलावैगा ॥ १८ ॥

यथा दीपोनिवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ॥
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः॥१९॥

दोहा—जैसे दीप समीर बिन, रहै ज्योति ठहराय ॥
योगी निहचल चित्त को, उपमा है यह भाय ॥१९॥

टीका--हे अर्जुन ! जिस प्रकार वायु रहित स्थान में रक्खे हुए दीपक की ज्योति हिलती नहीं है वैसेही समाधि योग के अभ्यास करनेवाले योगी का चित्त निश्चल होने से तद्रूप मन को भी कहा है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥
यत्र चैवात्मनात्मानंपश्यन्नात्मनितुष्यति।२०।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः॥
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते २२
तं विद्याद् दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम् ॥
सनिश्चयेनयोक्तव्योयोगोऽनिर्विण्णचेतसा२३

दोहा-करि अभ्यास निरुद्ध चित, उपजत भे जन तेहि ॥
जहँ निरखै प्रभु शुद्ध, मन, तोष आपु महँ तेहि ॥२०॥
जो इन्द्रिय नहिं गहि सकै, बुद्धि ग्राह्य आनन्द ॥
अचल होय जेहि स्थिर टिकै, सोई आत्मानन्द ॥२१॥
आत्मा लाभ के लोभ ते, और जानि रे मित्त ॥
स्थिरता गहि डोलै नहीं, बहु सुख पाये चित्त ॥२२॥
जेहि सुख के संयोगते, दुखकर योग वियोग ॥
होय जो निश्चल चित्तते, सोई आतम योग ॥ २३ ॥

टीका--जिस योगकी अवस्था में स्थित योगाभ्यासी योगी चित्त को रोककर रमता है और मनसे अपने आत्माको अपमेही विषे देखकर सन्तुष्ट होता है। जिस योगारूढ़ अवस्था में योगी जब

आत्मतत्त्व से निश्चल और स्थिर होता है तभी योगी पुरुषको जो निरतिशय है और इन्द्रियों से ग्रहण करने के योग्य नहीं केवल ज्ञान ग्राह्य है सोई अत्यन्त आनन्दप्रद सुख प्राप्त होनेपर उससे अधिक दूसरे लाभको नहीं मानता है वैसेही स्थिरचित्त योगी योगाभ्यास के लिये स्थित होने पर बड़े से बड़ा दुःख प्राप्त होनेसे भ्रष्ट नहीं होता। ऐसे योगी से विषयों द्वारा सुख दुःखादि द्वन्द नाश को पाते हैं इसीको हे अर्जुन! योग कहते हैं यदि यह समाधि योग किसी कारण से शीघ्र सिद्ध न हुआ तोभी खेदयुक्त अन्तःकरण न होकर मनसे दृढ़ निश्चय करके युक्त योग को सम्पादन करनाही चाहिये ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ॥
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ॥
आत्मसंस्थं मनःकृत्वानकिंचिदपि चिन्तयेत् २५

दोहा—सकल मनोरथ कामना, तजि रिपु जानिय येहु ॥
मन करि इन्द्रिय सकल के, बस करि राखहु गेहु॥२४॥
शनै शनै करि धारना, बस किय सुमति सयानि ॥
तेहिकर स्थिर मति आपुमो, तब भइ चिन्तन हानि२५

टीका--योगी पुरुष संकल्प कल्पना से उत्पन्न होनेवाले समस्त कामों को निश्शेष करके चारों ओर से इन्द्रियगण को मनमें रोक कर योगाभ्यास में चित्त को लगावै और धीरे २ शान्त बुद्धि द्वारा धैर्य धारण करके आत्मा में मन को स्थित करके बाहरी विषयों से विमुक्त होकर योगाभ्यास करै ॥ २४ ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ॥
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत् ॥२६॥

दोहा-मन चंचल जित नित चलै, ताको राखै रोकि ॥
करि संयम निज आत्मा, तजे जो ताको ठोंकि ॥२६॥

टीका-यह मन स्वभाव से ही विषय लम्पट होने से चंचल और धारण से भी एक जगह स्थित रहने वाला नहीं है इस हेतु से जिस २ तरफ़ यह मन दौड़े उसी उसी तरफ़ से इसे रोककर आत्माही में स्थित करना चाहिये ॥ २६ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

दोहा-शान्त भयो मन जाहिको, रज गुण जासु विलान ॥
ते योगी पर सुख लहहिं, अहहिं सो ब्रह्म समान ॥२७॥

टीका-त्रिगुण (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) गुणों से होने वाले विषयों से जिसका चित्त हट गया है वह निष्पाप विकार रहित अत्यन्त शान्त मन योगी अनुपम समाधि के सुखको निश्चयही पाता है ॥ २७ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥२८॥

दोहा-जो योगी इह विधि करै, योग पाप को त्यागि ॥
सहजहि ब्रह्महि के सुखहिं, लहे रहत अनुरागि ॥२८॥

टीका-ऐसा निष्पाप समाधि लगाने वाला योगी सदैव मन को समाधि में लगाता हुआ ब्रह्मके सम्बन्ध से सहजहीमें जीवन मुक्तताको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥

दोहा-सकल जगत में मोहिजे, देखै जग मोहिं मांह ॥
सो योगेश्वर सर्व सम, भयो अविद्या दाह ॥ २९ ॥

टीका-योग में मन लगाये हुये योगी सबको समान देखने वाला अपने को सब जीवों में और सब जीवों को अपने में स्थित देखता है ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ॥
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

दोहा-सब हरि महँ हरि सबन महँ, अति निर्मल मति जेहि ॥
ते जन निरखहि नित्यमोहिं, मैं निरखौं पुनि तेहि॥३०॥

टीका-जो योगी पुरुष ब्रह्मादि तृण पर्यन्त समस्त प्राणीमात्र के मध्यमें सच्चिदानन्द स्वरूप मुझको देखता है और उसी रीति से मुझमें सब प्राणियों को देखता है उसको मैं कभी भी अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मुझे अदृश्य नहीं होते हैं ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

दोहा-सर्व भूत महँ जो लसै, भजै एकही एक ॥
सो योगी मोहिं महँ बसै, न करि कर्म बद नेक॥३१॥

टीका-जो पुरुष सर्वव्यापी परमात्मा को एकही रूप सब में जानता हुआ समस्त जीवों में मुझको रहने वाला जानता है सोई ज्ञानी होकर मुझ में प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

दोहा-सबके देखे आपु सम, सुख दुख एकै भाय ॥
सो योगी सबते बड़ो, मों में रहै समाय ॥ ३२ ॥

टीका-हे अर्जुन ! जो पुरुष अपनी आत्मा के समान सब प्राणियों के सुख दुःख को समझता है सोई पुरुष योगियों के मध्य में परम उत्तम है ॥ ३२ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ॥
एतस्याहंनपश्यामिचंचलत्वात्स्थितिस्थिराम्।

दोहा—केवल समता योग जो, कह्यो मोहिं दरशाय ॥
याकी स्थिति स्थिर नहिं लख्यों, अति चंचल मनजाय॥

टीका—श्रीकृष्णचन्द्रजी के वाक्य को सुनकर अर्जुन ने कहा कि हे मधुसूदन ! सर्वत्र आत्माकार स्थित करके होने वाला जो यह योग आपने कहा सोई योग मन चञ्चल होने के कारण मैं बहुत काल तक स्थिर नहीं देखता हूँ ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

दोहा—कृष्ण चपल मन अति सुदृढ़, मथन शील बलवन्त ।
दुष्कर निग्रह तासु मोहिं, लगै बूझ भगवन्त ॥ ३४ ॥

टीका-हे श्रीकृष्ण ! इन्द्रियों को लुब्ध करने वाला विचार से भी जीतने योग्य नहीं ऐसा यह चञ्चल मन है जो विषय वासना की प्रीति से दुर्भेद्य ऐसे दुष्कर मनको जीतना वायु की भाँति अत्यन्त कठिन जान पड़ता है ॥ २४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ॥
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

दोहा—अर्जुन तुम साँची कही, मन चञ्चल न गहाय ॥
योग किये वैराग्य के, निश्चय पकरो जाय ॥ ३५ ॥

टीका—अर्जुन के प्रश्न को सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा कि हे महाबाहो ! अर्जुन यह आपका कहना कि मन चञ्चल है और रोकने के योग्य नहीं है सो सब सत्य है परन्तु योगीजन विषयों

को वैराग्य से रोकते हैं और निश्चय रोका भी जाता है ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

दोहा—अजित चित्त कहँ योग यह, मम मति से दुष्प्राप ॥

जित चित यत्न उपासहू, पावै आपो आप ॥ ३६ ॥

टीका—हे अर्जुन ! यह मेरी निश्चय मति है कि जिसका मन स्थिर नहीं है वह पुरुष योग प्राप्त होने के योग्य भी नहीं है और जिसका मन वश में है वह प्रयत्न करने से मेरे कहे हुये उपाय से योग प्राप्त करने में योग्य है ॥ ३६ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ॥

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ३७

दोहा—करन लग्यो श्रद्धा सहित, योग डगो तेहि राह ॥

ज्ञान लह्यो नहिं योगफल, कहहु तासु गति काह ॥३७॥

टीका—श्रीकृष्ण का वाक्य सुनकर अर्जुन ने पूँछा कि हे कृष्ण ! जो श्रद्धा युक्त पुरुष योग में लगा हुआ किसी कारण वश योगसे मन चञ्चल होकर योग सिद्धि को न प्राप्त हुआ तो उसको क्या गति प्राप्त होती है ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ॥

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

दो०—कृष्ण किधौं आश्रय रहित, ब्योम मेघ जिमि नष्ट ॥

ब्रह्म पन्थ में मूढ़ चित, उभय लोक से भ्रष्ट ॥ ३८

टीका—हे महाबाहो ! श्रीकृष्ण चन्द्रजी ब्रह्म प्राप्ति के उपायरूप मार्ग में ज्ञान योग और कर्म योग के आश्रय रहित होने

के कारण जिसका मोक्ष फल और स्वर्ग प्राप्ति फल नष्ट हुआ है कि जैसे आकाश में छोटासा मेघ पवन से बीचही में नष्ट होता है वैसेही कदाचित् नाश को तो नहीं प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्णाच्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ॥
त्वदन्यः संशयस्यास्यच्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

दोहा—अहा कृष्ण संशय हरण, तुम सम या जगमाहिं ॥
मम संशय दूरी करण, अस कोऊ है नाहिं ॥ ३९ ॥

टीका--हे श्रीकृष्णचन्द्रजी ! मेरे इस संशय के दूर करने को आपही समर्थ हैं कारण कि सर्वज्ञ परमेश्वर आपके बिना दूसरा कोई भी संशय को दूर करने वाला नहीं है ॥ ३९ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ॥
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिंतातगच्छति॥४०॥

दोहा—अर्जुन तिनको नाश नहिं, इह लोकन परलोक ।
नहिं शुभ कर्त्ता लहै कोउ, तात अधोगति ओक ॥४०॥

टीका-- अर्जुन के प्रश्न को सुनकर श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि हे अर्जुन ! किसी सत् कार्य के करने वाले पुरुष को इस लोकमें पातक नहीं और परलोक में नरक नहीं प्राप्त होता है कारण कि अच्छे कार्य करने वाले पुरुष दुर्गति को नहीं प्राप्त होते हैं ॥४०॥

प्राप्यपुण्यकृताँल्लोकानुषित्वाशाश्वतीः समाः
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

दोहा—पुण्यवन्त के लोक में, रहत बहुत दिन जाय ॥
योग भ्रष्ट धनवन्त शुचि, तिन घर जन्मैं आय ॥४१॥

टीका--योग मार्ग में प्रवृत्त हुआ योगी कदाचित् उस मार्ग से भ्रष्ट हुआ तो वह अश्वमेधादि यज्ञों द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्गादि

लोकों को पाकर बहुत वर्षों तक वास करके अनेक भोगों को भोग कर इस लोक में जो कुलीन सदाचार सम्पन्न धनवान लोग हैं उनके घर में जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

दोहा—बुद्धिवन्त योगी कुलनि, आनि लये अवतार ॥
जन्म लहत ऐसे धरनि, दुर्लभ हैं अवतार ॥ ४२ ॥

टीका—अथवा ज्ञानियों के कुलमें उत्पन्न होते हैं इस लोकमें इसभाँति के कुलमें जन्म पानाभी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥४३॥

दोहा—तहऊँ पुरबल योगते, लहै बुद्धि संयोग ॥
यत्न करै जिहि योगते, पार्थ मोक्ष सुख भोग ॥४३॥

टीका—कारण कि योगाभ्यास में अनेक विघ्न आकर उपस्थित होते हैं—हे कुरुनन्दन ! पूर्व किये हुये सत् आचरण द्वारा जन्मान्तर में उत्तम योग में लगकर अधिक फल प्राप्त करने का स्वयं योगी यत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥४४॥

दोहा—पूर्व देह अभ्यास वर, हरै विषय रति तासु ॥
योग पन्थ सन्मुख करै, लाँधि वेद फल आसु ॥ ४४ ॥

टीका—उस पूर्व अभ्यास योग से ही मोक्ष को प्राप्त होता है और योग जानने वाला पुरुष वेद से अधिक फल पाता है ॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ॥

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयाति परांगतिम् ॥४५॥

दो०—यत्न करत सो यत्न से, योगी किल्विष शुद्ध ॥
सिद्ध होय बहु जन्मसे, लहै परमगति बुद्ध ॥ ४५ ॥

टीका—योगी पुरुष पापसे शुद्ध होकर अधिक यत्न करताहुआ अनेक जन्म के योगाभ्यास में ज्ञानकी सिद्धि को पाकर उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

तपस्विभ्योऽधिकोयोगीज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाऽधिको योगीतस्माद्योगीभवार्जुन४६

दो०—अहहि तपस्वी ते अधिक, कर्मिहि ते बड़ जोहु ॥
शास्त्री ते बड़ योग युत, ते तुम योगी होहु ॥ ४६ ॥

टीका—तपस्वियों से, ज्ञानियों से और कर्म करने वालों से योगी पुरुष अधिक है इस लिये तुमभी योगी होवो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ॥
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० श्रीकृष्णार्जुन संवादे
अभ्यास योगोनाम षष्ठोऽध्यायः ॥

दो०—योगी अहहि अनेक विधि, तिन्ह सब महँ मम भक्त ॥
भजहिं मोहिं श्रद्धा सहित, सो मेरो मत युक्त ॥ ४७ ॥

टीका—समस्त योगियों में से जो पुरुष मेरी ओर चित्त लगा कर श्रद्धाभाव युक्त मुझको भजता है सोई पुरुष मेरी बुद्धि से श्रेष्ठ है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां० श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पं० महाराज
दीन दीक्षित कृत भाषाटीका दोहा व्याख्यायां
आत्म संयम योगोनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥
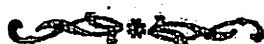
* अथ सप्तमोऽध्यायः *

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगंयुंजन्मदाश्रयः ॥
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

दो०—मन लगाय मोहिं योगकरि, शरण मोरी चित आनि ॥
मोहि समग्र जानहु यथा, सुनु सो कहौं बखानि ॥ १ ॥

टीका—हे अर्जुन ! तुम मेरे विषय मन लगा कर और मेरेही आश्रय (अनन्यशरण) होकर योगाभ्यास करते हुए विभूति, बल, ऐश्वर्य आदिके समेत मेरे स्वरूप को निःसंशय जैसे जानोगे वैसाही हम कहते हैं सो सुनो ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ॥
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते२

दोहा—अर्जुन तो हित मैं कहौं, सविज्ञान यह ज्ञान ।
ज्ञेय न पुनि कछु इह लहौं, जाहि जानि मतिमान॥२॥

टीका—अनुभव और शास्त्रका ज्ञान हम तुमसे कहेंगे जिसके जानने से इस लोकमें फिर और कुछ भी जानने योग्य बाकी न रह जायगा ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ॥
यततामपिसिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥३॥

दोहा—नर सहस्र महँ एक कोउ, करहि यतन हित ज्ञान ॥
यत्नवन्त पुनि सहस्र महँ, कोउ आतम पहिचान ॥३॥

टीका—कारण कि असंख्य जीवों के मध्य में बिना किसी भी कल्याण के विषे प्रवृत्ति होती नहीं है और उन हजारों मनुष्यों में से कोई एक पुरुष बड़े पुण्यके प्रभावसे विवेक पूर्वक वैराग्य,

शम, दम आदि साधनों से युक्त होकर आत्मज्ञान विषे प्रयत्न करता है इस प्रकार का यत्न करने वाला हजारों पुरुषों में एक कोई होता है और वही मेरे प्रसाद से परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप मुझको यथार्थ रीति से जानता है वही तत्त्वज्ञान तुम प्रति मैं कहता हूँ सो सुनो ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ॥
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ॥
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

दोहा–भू जल अनल पवन गगन, मन बुद्धि पुनिहंकार।
आठ भेद युत मम प्रकृति, जानहु अपर असार ॥४॥
जानहु पुनि मम पर प्रकृति, जीवनाम जेहि होय ॥
जेहि कर धार्यो सकल जग, जड़ चेतनहिं समोय ॥५॥

टीका–हे अर्जुन ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध रस, रूप, स्पर्श, शब्द, मन का कारणभूत अहङ्कार यह मेरी न्यारी २ आठ प्रकारकी अचेतन प्रकृति हैं, हे महाबाहो अर्जुन ! इस परा प्रकृति से भिन्न मेरी निकृष्ट अपरानाम प्रकृति है इसी अपरा प्रकृति से भिन्न भिन्न जगत् धारण किया जाता है उस जीवरूप मेरी परानाम (क्षेत्रज्ञरूप) दूसरी श्रेष्ठ चेतन प्रकृति है ऐसा तुम जानो ॥ ४ ॥५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

दोहा–इहै योनि चर अचरकी, मैं याकी हौं मित्र ॥
अरु मैं ही सबजाति की, उत्पति लय करु चित्र ॥६॥

टीका–स्थावर, जङ्गम रूप सम्पूर्ण जीव इन दोनों जड़ और

अचेतन प्रकृतियों से उत्पन्न जानो और यह प्रकृतियाँ हमीसे उत्पन्न हुयी हैं इस लिये जगत् की सृष्टि और प्रलय के कारण भी हमी हैं॥ ६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय॥
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

दोहा—मोसे पर नहिं कछु अवर, जानो कुन्ती पूत॥
गुँथ्यो मोहिं सब चर अचर, गुँथि मणिगण जिमि सूत॥७॥

टीका—हे अर्जुन! जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लयके विषय में भी मैंही कारण हूँ, मेरे बिना दूसरा कुछभी श्रेष्ठ जगत् कारण नहीं है कारण कि जैसे:-सूत्र में माला की मणियां (गुरियाँ) पिरोई रहती हैं उसी भाँति यह समस्त जगत् मुझही में रहता है॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः॥
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

दोहा—चन्द्र सूर्य की किरण हौं जल रस मोको मानि॥
वेदन प्रणव अकाश रव, पौरुष शब्द बखानि॥ ८॥

टीका—हे अर्जुन! जलमें रस, सूर्य चन्द्रकी प्रभा, वेदोंमें प्रणव और मनुष्यों में पुरुषार्थ मैंही हूँ॥ ८॥

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ॥
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

दोहा—पृथ्वी महँ शुचि गन्ध मैं, अनल तेज ममरूप॥
सब जन जीवन आयु मैं, तपसिन मैं तपरूप॥९॥

टीका—हे अर्जुन! पृथ्वी में पवित्र और मनोहर सुगंन्धिरूप, अग्निमें तेजरूप, समस्त भूतोंमें जीवन अर्थात् आयुष्य (अन्नादि) रूप, तपस्वियों में तप रूप मैंही सदैव रहता हूँ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

दोहा—सब जीवन का बीज हौं, मोको जानि जु लेहु ॥
बुद्धिवन्त मैं बुद्धि हौं, सब तेजनि का गेहु ॥१०॥

टीका—हे अर्जुन ! सब जीवों के सनातन बीज उत्पत्ति कारण, बुद्धिमान जनों में बुद्धिरूप, तेजस्वियों के मध्य में तेजरूप मैं ही हूँ ॥ १० ॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ॥
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

दोहा-सब तन महँ मैं धर्म बल, जो बिन राग अकाम ॥
निज तिय मैथुन कर्म भल, सो अर्जुन मैं काम ॥ ११ ॥

टीका—हे अर्जुन ! बलवानों का बल "काम रागादिसे रहित" और समस्त जीवों में स्वधर्म को बाधा न करते हुये निज स्त्रीही में पुत्र जननोपयोग जो काम है वह मैंही हूँ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्चये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

दोहा—सत रज तम जे भाव हैं, सब माया के आहिं ॥
मोसेही ए होत हैं, मैं न बसौं इनमाहिं ॥ २१ ॥

टीका—सात्विक, राजस और तामस यह तीनों भाव मुझसेही उत्पन्न हुये जानो परन्तु मैं उनमें नहीं रहता, किन्तु कार्य रूपसे वेही मुझमें रहते हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ॥
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

दोहा—तीनि गुणनि के भाव करि, मोहित है जगजाल ॥

गुण पर जानहिं मोहिं नहिं, प्रणत जनन प्रतिपाल॥१३॥

टीका—इन तीनों गुणों से उत्पन्न हुये भाव द्वारा यह समस्त जगत् मोह को प्राप्त हुआ है इस हेतु से लोग मुझको इससे दूसरा नहीं जानते परन्तु मैं सब विकार से रहित हूँ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया॥
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते॥१४॥

दोहा—मेरी माया गुण मयी, दुस्तर तरी न जाय।
आवै कोई मों शरण, सो उतरै सुखभाय॥१४॥

टीका—हे अर्जुन! यह मेरी त्रिगुणात्मक "सात्विक, राजस, तामस" रूप माया अति अद्भुत और दुस्तर है इस कारण जो पुरुष मुझे भजते हैं वही इससे तर कर पार पाते हैं॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः॥
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥

दोहा—दुराचार पापी अधम, लहैं न मों कहँ मूढ़॥
ज्ञान गयो माया भरम, असुर भाव आरूढ़॥१५॥

टीका—दुराचारी, अधम, मूर्ख पुरुष मुझको नहीं भजते कारण कि मायासे उनका ज्ञान नष्ट हो गया है इससे वही पुरुष असुर भावको प्राप्त होते हैं॥१५॥

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन॥
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

दोहा-भजहिं मोहिं सुकृती चतुर, जगजन चारि प्रकार॥
दुःखी मुमुक्षु अकाम धन ज्ञानी गत संसार॥१६॥

तिनमहँ ज्ञानी अधिक प्रिय, सो है पूरा भक्त ॥
मैं हूँ ताहि अत्यन्त प्रिय, जाते मोहिं असक्त ॥ १७ ॥

टीका– हे अर्जुन ! संसारिक दुःखों से दुःखी पुरुष, आत्मतत्त्व के जानने की इच्छासे मुमुक्षुजन, इसलोक और परलोकमें सुख की इच्छा रखनेवाले, अखण्ड ज्ञान प्राप्तिकी इच्छासे ज्ञानी यह चार प्रकार के पुरुष मुझको भजते हैं । हे भरतर्षभ ! उनके मध्य में ब्रह्मनिष्ठ मेरेहीमें सब प्रकार की इच्छा रखने वाला पुरुष केवल मेरीही भक्ति करते हैं उसी जनको सबसे श्रेष्ठ जानना, ज्ञानीही को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको अति प्रिय है ॥१६॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
आस्थितःसहियुक्तात्मामामेवानुत्तमांगतिम् १८

दोहा–यह महन्त चारिउ चतुर, मोहिं ज्ञानि नहिं भेद ॥
रहहि सदाते मोहिं महँ, मोचित गत भव खेद ॥१८॥

टीका-यह चारोंही महात्मा श्रेष्ठ हैं परन्तु ज्ञानी पुरुष मेरी आत्माही है कारण कि वह मुझमेंही चित्त लगाकर मुझीको उत्तम गति जानकर मेराही आश्रय करता है ॥१८॥

बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ॥
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

दोहा–बहुत जन्म के अन्त में, ज्ञानी पावैं मोहिं ॥
वासुदेव सब जगत में, लखै सो दुर्लभ होहिं ॥१९॥

टीका-अनेक जन्मों के अन्तमें पुण्य कर्म के द्वारा बहुत सी इकट्ठी की हुई पुण्यके प्रभावसे "यह समस्त जगत् वासुदेव स्वरूप है" ऐसा आत्माकार ज्ञानवान् पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है एतादृश महानुभाव पुरुष बहुतही दुर्लभ हैं ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः ॥

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ॥
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

दोहा—तिन तिनकी मनमति हरी, सेवहिं भूत पिशाच ॥
नियम करहिं सोई सकल, विवस प्रकृति मतिकाँच २०
जो जो जेहि जेहि मम तनहिं सुरहि पूजवे चाहिं ॥
करते जो श्रद्धा अचल, करहु हिये बसि ताहिं ॥२१॥

टीका-जिनका ज्ञान पृथक २ कामों से हरण भया व किसी न किसी नियमों को आश्रय करके अपने पूर्व-जन्मकी वासनाके आधीन होकर अन्य देवताओं को भजते हैं। जो भक्त जिस २ मूर्ति को श्रद्धा से जिन जिन मनोकामनाओं की सिद्धि के लिये पूजते हैं उन भक्तोंको मैं उसी भावसे दृढ़श्रद्धा उत्पन्न करता हूँ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ॥
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥

दोहा—सो तहि श्रद्धहि गहि करहिं, आराधन जन तासु ॥
लहहिं काम तिहते सकल, मम दीन्ही मम भासु ॥२२॥

टीका-मेरी दी हुई दृढ़ भक्ति से युक्त वह अन्य देवताओं का भक्त उन्हीं देवताओं के अनुरूप मंत्र द्वारा जप आदि आराधना करने लगता है तब मुझ अन्तर्यामी करके ही उन देवताओं के द्वारा इच्छित भोगों को प्राप्त होता है ॥२२॥

अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ॥
देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥२३॥

दोहा—तिन लघुमति नर जूहके, नाशवन्त फल होहिं ॥
सुर सेवक सुर कहँ लहहिं, मम सेवक लह मोहिं ॥२३॥

टीका-जिन पुरुषों को अल्प बुद्धि है उनका फल भी विनाश

वान है वही अन्य देवताओं को भजन करने वाले विनाशवान होकर उन देवताओं को प्राप्त होते हैं परन्तु जो पुरुष यथार्थ भाव युक्त नाश रहित परमानन्द रूप मुझको पूजता है वह निस्सन्देह मेरे रूपको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ॥
परंभावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

दोहा—परम भाव जानत नहीं, मों कहँ मानत व्यक्त ॥
हैं कुबुद्धि वेही सही, मैं अव्यय अव्यक्त ॥ २४ ॥

टीका—अविवेकी और कुबुद्धि पुरुष मुझ अविनाशी अव्यक्त को मानुष तनधारी मानते हैं कारण कि वह मेरे अनाशवान् रूप को जानते नहीं हैं ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ॥
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्२५

दोहा—छिप्यो योग माया निजहिं, नहिं दोषहि सब मोहिं ॥
मूढ़ न जानहिं मोहिते, अज अविनाशी जोहिं ॥ २५ ॥

टीका—मैं योग माया से घिरा हुआ हूँ इसी कारण से सब लोग मुझे प्रगट नहीं जानते और सब पर मैं उक्त कारणों के द्वारा प्रकट नहीं हूँ और वह लोग भी मुझे जन्म मृत्यु रहित परमानन्द स्वरूप जानते भी नहीं हैं ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ॥
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।२६।

दोहा—अर्जुन मैं जानो अमल, जे हैं जीव जहान ॥
हुये होहिं तिनहूँ सकल, मोहिं न कोऊ जान ॥ २६ ॥

टीका—हे अर्जुन ! मैं भूत, भविष्य, वर्त्तमान समस्त भूतों को भली भाँति जानता हूँ परन्तु मुझको कोई भी नहीं जानता है ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ॥
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप ॥ २७ ॥

दोहा—राग द्वेष करि जन्म जेहि, द्वन्द मोह तेहि धारि ॥
निजहि सुखी जानहि बहुत, लहि तनु आपु विसारि २७

टीका—हे अर्जुन ! इच्छा द्वेष द्वारा उत्पन्न हुये सुखों को प्राप्त होकर सम्पूर्ण जीव उसी को सुख मानकर मोहको प्राप्त होते हैं और मुझे भली भाँति नहीं जानते हैं ॥ २७ ॥

येषांत्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥२८॥

दोहा—जिन मम हित बहु पुण्य करि, कीन्ह पाप के अन्त ॥
रहित द्वन्दके मोह से, भजहिं मोहि निजतन्तु ॥ २८ ॥

टीका—जिन पुरुषों का घोर पाप मम हित पुण्य कर्म करके नाश हो गया है वही सुख दुःख रूप द्वन्द युक्त भेद मूलक मोह से छूटकर दृढ़ निश्चय द्वारा मेरा भजन करते हैं ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यजन्तिये ॥
तेब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्मचाखिलम् २९
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ॥
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान विज्ञान योगोनाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

दोहा—जरा मरण के नाश हित, मोहिं गहि करि जिनयत्न ॥
तिन्ह जानों पर ब्रह्म तिन, कर्म अध्यातम रत्न ॥२९॥
साधिभूत अधिदैव जे, साधियज्ञ कर मूल ॥
जानत अन्तहु मोहिं ते, योगी कबहुँ न भूल ॥ ३० ॥

टीका— जो पुरुष मेरा आश्रय करके जरा मरण दूर होने के

लिये प्रयत्न करते हैं वही ब्रह्म और उसके साधन निमित्त कर्म को भी जानते हैं और जो २ लोग अधिभूत अधिदैव, अधियज्ञ सहित मुझको जानते हैं वही मरण समय में भी विचारवान होकर मेरे स्वरूप को भी जानते हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे पं०महाराजदीन दीक्षित कृत-भाषा टीका दोहा व्याख्या कृते ज्ञान विज्ञान योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

* अथ अष्टमोऽध्यायः *

* अर्जुन उवाच *

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ॥
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ॥
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

दोहा—कोहै ब्रह्म अध्यात्म को, कर्म कवन जगदीश ॥
कहिये केहि अधिभूत केहि, अधि देवत परमीश ॥१॥
को अधि यज्ञ या देह में, मधुसूदन भगवन्त ॥
जित चित योगी अन्त में, किमि जानें तोहिं सन्त॥२॥

टीका-अर्जुन बोले कि-हे पुरुषोत्तम ! आपने उक्त अध्याय के अन्त में जो कहा वह ब्रह्म कौन है ? अध्यात्म्य कौनसा है ? कर्म क्या है ? अधिभूत क्या है ? अधिदैव किसको कहते हैं ? अधियज्ञ कौन है ? और वह इसमें किस भाँति रहता है ? तथा वह अन्त समय जीवात्माओं के द्वारा किस प्रकार जाना जाता है ? इस सन्देह को हे मधुसूदन ! मुझपर कृपा करके कहिये॥१॥२॥

* श्रीभगवानुवाच *

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ॥
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरोभाव पुरुषश्चाधिदैवतम् ॥
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभूतां वर ॥ ४ ॥
अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ॥
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

दोहा-अक्षर पर जो ब्रह्म सो, जीव अध्यातम मान ॥
प्राण वृद्धि उत्पत्ति सो, जो करि कर्महि जान ॥ ३ ॥
नरवर तन अधिभूति है, है विराज अधिदैव ॥
अन्तर्यामी अधि यज्ञहि, जानहु मोहिं सदैव ॥ ४ ॥
मेरोही सुमिरन करत, अन्त काल तजिदेह ॥
सो पावै मो रूप को, यामें नहिं संदेह ॥ ५ ॥

टीका-अर्जुन के प्रश्नको सुनकर श्रीकृष्णने कहा कि हे पार्थ! ब्रह्म अचल और उत्कृष्ट है और वह आपही अपने अंशसे जीव रूप होना उसका अंश है और उस स्वभाव का भोक्तृत्व होकर शरीर में रहना अध्यात्म्य कहलाता है और सब जीवोंकी उत्पत्ति और पालन करने वाला जो आचरण है वही कर्म कहलाता है। नाशवान् देहादि का जो अधिकारी है वही अधिदैव कहलाता है। इस देह में मैंही अन्तास्थित अधियज्ञ हूँ। हे अर्जुन! इस कारण से जो पुरुष मुझे परमात्मा का स्मरण करता हुआ देह त्याग करके ज्योतिरूप मार्ग से जाता है वह निस्सन्देह मेरी समता को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ॥
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

दोहा-जेहि जेहि भावहि सुमिर नर, तजहिं कलेवर अन्त ॥
तेहि भावहि वासित हियो, लहहिं तेहि निजमन्त ॥६॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य जिन २ भावनाओं से जिन जिन

पदार्थों की इच्छा करता हुआ शरीर त्याग करता है वह उन्हीं २ वस्तुओं का ही सारूप्य (वही रूप) को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

दोहा-तेहि मोहिं सुमिरेहु सर्वदा, लखहु धर्म निज जानि ॥
राखहु मोहिं महँ बुद्धिमन, मोहिं पइहौं सब खानि॥७॥

टीका-इसलिये हे अर्जुन ! अन्त समय उत्तम वस्तु के स्मरण आनेका पूर्वकृत दृढ़ अभ्यासही कारण है इसलिये तुम भी सर्वकाल हमाराही चिन्तवन करते हुये युद्धरूप निज धर्मका आचरण करो इस रीतिसे हमारे विषे मन और बुद्धिको अर्पण करके हमारेही स्वरूपको निःसन्देह प्राप्त होवोगे ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमंपुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

दोहा-योग युक्त अभ्यास करि, चित्त अनन्य गतिजेय ।
मोहि सुमिरहिं पावहिं हमहिं, परम पुरुष जन तेय ॥८॥

टीका-हे अर्जुन ! जिन पुरुषोंका चित्त अभ्यासरूप दृढ़ यत्न से एकाग्र हुआ कदापि विषयान्तरोंमें नहीं जाता और वह निरन्तर परमेश्वर का ही चिन्तवन किया करते हैं वह पुरुष उसी रूपको पाते हैं ॥ ८ ॥

कविंपुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णंतमसःपरस्तात्
प्रयाणकालेमनसाचलेनभक्त्यायुक्तोयोगबलेनचैव
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्सतंपरंपुरुषमुपैतिदिव्यं॥१०॥

दो०—सब शिक्षक पोषक सकल, जो अचिन्त्य तमपार ।
सूक्ष्म पुरातन कवि अमल, जो रवि वर्ण अपार ॥६॥
अन्त समय मन स्थिरको करै, भक्ति योग बलपाय ।
भृकुटि मध्य प्रानहिं धरै, परम पुरुश में जाय ॥ १० ॥

टीका-जो पुरुष अन्त समय सुषुम्ना नाड़ीके द्वारा भृकुटिके मध्यमें प्राण वायुको स्थित करके एकाग्र भक्ति भावसे युक्त होकर सर्वज्ञ, अनादि, सबका स्वामी, अणुमात्रसे भी सूक्ष्म, सबका पालक, जिसका रूप चिन्तवन में नहीं आता, सूर्य सम अपनेको तथा दूसरों को देदीप्य करने वाला, प्रकृति (माया) से परे ऐसे अत्यन्त प्रकाशमान पुरुष का जो स्मरण करता है वह उसी के सारूप्यता को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदोवदंतिविशंतियद्यतोवीतरागाः
यदिच्छंतोब्रह्मचर्यंचरंति तत्तेपदंसंग्रहेणप्रवक्ष्ये

दो०—अक्षर जाको कहत हैं, वीत राग जहँ जात ॥
ब्रह्मचारि जाको चहत, कहुँ ता पदकी बात ॥ ११ ॥

टीका-वेदके अर्थ को भली भाँति जानने वाले वेदान्ती लोग जिसको अक्षर ब्रह्म कहते हैं अति यत्न से समस्त वासनाओं को त्याग किये हुये संन्यासी लोग जिस परमब्रह्म में प्रवेश करते हैं जिस पदके जानने के लिये ब्रह्मचारी श्रेष्ठ गुरुकी सेवा करते हैं उस अक्षर ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय हे अर्जुन ! तुम प्रति कहता हूँ सो सुनो ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितोयोगधारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यःप्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।१३।

दोहा०—सब द्वारनको बस करै, मन रोके हिय माहिं।
प्राणहि राखै शीश में, रहे धारना माँहिं ॥ १२ ॥
मोहिं सुमिरत अरु जपतही, शब्द ब्रह्म ओंकार ॥
या विधि देहैं तजत जो, सोई पार संसार ॥ ११ ॥

टीका—जो पुरुष मनकी सकल इन्द्रियोंके विषयसे निवृत्ति करके और समस्त द्वारों को रोककर मनको एकाग्र हृदय में स्थित करके योगबल द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापन पूर्वक "ॐ" इस प्रणवाक्षरको उच्चारण करते करते जो योगी पुरुष शरीरको छोड़ कर अर्चिष आदि मार्ग से जाता है वह मेरी परम (श्रेष्ठ) विदेहगति को पाता है, वह जो विदेह गति है सो मुक्ति कहलाती है ॥ १२ ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ॥
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

दोहा-जो अनन्यचित होइ मोहिं, सुमिरै योगी पार्थ ॥
मिलौं तिनहिं मैं सहजही, सावधान परमार्थ ॥१४॥

टीका—हे अर्जुन! जो योगी अनन्याचित्त होकर प्रतिदिन मेरा ही निरन्तर स्मरण करता है उसी नित्याभ्यासी योगी को हम सुख से प्राप्त होते हैं औरों को जो विषय भावना युक्त हैं उनको नहीं मिलता हूँ ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ॥
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५॥

दोहा-मोहिं पाय पुनि नहिं लहैं, दुःखालय संसार ।
मोक्ष सिद्धि तेई लहैं, जिनके ज्ञान अपार ॥ १५ ॥

टीका-हे अर्जुन! उक्त लक्षणों से युक्त जो योगी पुरुष मोक्षरूप सिद्धि को पा चुके हैं वह महात्मा लोग अनित्य दुःख का घर संसार विषे फिर जन्म को नहीं पाते ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाँल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ॥
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

दोहा—अर्जुन जेते लोक हैं, ब्रह्मलोक पर्यन्त ।
तिनमहँ पुनि जन्मत अहैं, मोहिं लहे नहिं सन्त ॥१६॥

टीका-हे कौन्तेय ! कुन्तीपुत्र ब्रह्मलोक आदि जितने लोक हैं उन सभी में जानेसे पूर्व कृत पुण्यक्षय होनेपर छूट जाता है और वहाँ के वासियों को फिर जन्म लेना होता है और जिन पुरुषोंने मुझे प्राप्त किया है वह फिर जन्म नहीं धारण करते हैं ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ॥
रात्रिं युगसहस्रांतांतेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

दोहा—सहस्र युगनिके अन्तलों, ब्रह्मा के दिन जानि ।
रातिउ तितनी होति है, ज्ञानी कहे बखानि ॥१७॥

टीका-चारों युग सहस्र बार व्यतीत होने में जो समय व्यतीत होता है वह ब्रह्मा का एक दिन है और उतने ही समय की रात्रि भी होती है इस भाँति के जानने वाले अहोरात्रि के वेत्ता कहलाते हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

दोहा—दिन आगम प्रगटहिं सकल, कारण ते सब काज ।
निशि आगम सब कारणहिं, मिलहि काज युतसाज ॥१८॥

टीका-ब्रह्माके दिन आरंभ होनेसे ही यह समस्त सचराचर जगत् माया से उत्पन्न होता है और रात्रि के आरम्भ में उक्त माया में लय हो जाता है ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्त्यहरागमे ॥ १९ ॥

दो०—प्रथम भये जे भूतगण, सोइ लहि जन्म विलाहिं ॥
निशि आगम परतंत्र पुनि, दिन आगम प्रकटाहिं ॥१६॥

टीका—हे पार्थ ! जो प्रथम चराचर जीवों का समूह था वही दिनके आरम्भ में कर्म वश प्रकट होकर रात्रि के आरम्भ में लय होता है इसको सृष्टि प्रलय का प्रवाह जानों सो सब अनित्य है ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षरइत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

दो०—जग कारण माया कही, ता कारण जो होय ॥
सकल जीव विनसत सही, तऊ न विनसत सोय ॥२०॥
सोई अक्षर परम गति, ताहि न देखै कोय ॥
फिरै न ताको पायकर, परम धाम मम जोय ॥ २१ ॥

टीका—इस भाँति समस्त चराचर जगत् का कारणभूत जो अव्यक्त अर्थात् अविद्या (माया) उससे भी अत्यन्त विलक्षण जो अनादि नित्य इन्द्रियों के अगोचर और अति उत्तम (परमेश्वररूप सत्ता) वह तो कार्य कारण रूप व्यक्त अव्यक्त सब भूत नाश (सत्सु) होने पर कभी नाश को नहीं पाता वही अव्यक्त अविनाशी कहलाता है उसी को विवेकी लोग उत्कृष्ट गति कहते हैं कि जिस स्थान में प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते हैं ॥२०॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

दो०—घट घट व्यापक जो परम, जाकी है सब शक्ति ॥

पार्थ पुरुष पर सो अगम, मिलन एकही भक्ति॥ २२॥

टीका-हे पार्थ! समस्त भूत जिसके अन्तरमें उपस्थित हैं और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है ऐसा जो परम पुरुष सो मैं अनन्य शरण भक्ति से ही जाना जाता हूँ इससे पृथक् और कोई उपाय मेरे जानने के लिये नहीं है॥ २२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः॥
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥२३॥

दो०-फिरि आवत जा काल में, नहिं आवत जा काल।
अर्जुन तोसों कहत हौं, सुन यह सीख विशाल॥२३॥

टीका-हे भरतर्षभ! जिस कालमें योगीजन मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः जन्म को पातेही नहीं और जिस काल में मृत्यु को पाकर फिर जन्म लेता है उस काल को मैं तुझ प्रति कहता हूँ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासाउत्तरायणम्॥
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः॥ २४॥

दो०-अनल ज्योति दिन शुक्ल पख, उत्तर अयन छमांस।
कर पयान जिन यहि समय, लहँहिं ब्रह्मपद वास॥२४॥

टीका-अग्नि, दिन, ज्योति, शुक्लपक्ष छः महीने उत्तरायण में मृत्यु को प्राप्त होनेवाले ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं

धूमो रात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

दो०-धूम निशा दक्षिण अयन, कृष्णपक्ष जो होय॥
शशि मण्डल योगी लहै, फिरि आवत है सोय॥ २५॥

टीका-धुआं, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छः मास इनमें जो शरीर त्यागता है वह चान्द्रमस लोक में जाकर फिर लौट आता है॥ २५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ॥
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥ २६ ॥

दो०–अहैं दुइ मत जगत के, श्याम धवल सविवेक ॥
नहिं आवहिं पुनि एक करि, पुनि आवहिंकरिएक ॥२६॥

टीका–शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष यह पूर्वोक्त दोनों गति जगत के लिये मानी गई हैं इस दो में से शुक्लपक्ष गतिवाले नहीं फिरते और कृष्णपक्ष गतिवाले निज किये पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग लोक के सुखको भोग करके पुनः मृत्यु लोक में आकर जन्म लेते हैं ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७॥

दो०–यहि दो पन्थन जानिकर, योगी लहै न मोह ।
तेहि सब कालहि योग युत, होहु कुशल सन्दोह ॥२७॥

टीका–हे अर्जुन ! उक्त दोनों मार्गों को जानने वाला योगी कदापि मोहको नहीं प्राप्त होता है इस कारण आप भी सदैव योगाभ्यास करो ॥ २७॥

वेदेषुयज्ञेषुतपस्सुचैवदानेषुयत्पुण्यफलंप्रदिष्टम्
अत्येतितत्सर्वमिदंविदित्वायोगीपरंस्थानमुपैति
चाद्यम् ॥ २८ ॥

दो०–वेद यज्ञ तप दान को, कह्यो पुण्य फल जोय ॥
लांघि सकल जिन जान यहि, तासु वास हरि होय ॥

टीका–हे अर्जुन ! इस अध्याय में कहे हुये तत्त्व को जो भली भाँति जानता है वही योगी चारों ऋग्वेदादि वेदों को अङ्गों सहित जानने से, अश्वमेधादि यज्ञों को साङ्ग आचरण करने से

कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप करने से देशकाल का विचार कर सत्पात्र में कन्या, गौ, भूमि का दान करने से जो पुण्य शास्त्र में कहा है उस सबही से श्रेष्ठ पूर्वोक्त तत्त्वके जानने से जगत् का कारण भूत व सबका अधिष्ठान भूत परब्रह्म (परमपद) को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इतिश्री मद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे पं० महाराज-दीन दीक्षित कृत भाषा टीका दोहा व्याख्या कृते महापुरुष योगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः प्रारम्भः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १

दोहा—अर्जुन तोसों कहत हौं, एक गुप्त की बात ।
सहित ज्ञान विज्ञान युत, जानि छूट भव पात ॥ १ ॥

टीका—श्रीकृष्णचन्द्रने उक्त अध्याय में अर्चिषादि मार्ग द्वारा कालान्तर में प्राप्त होने वाली मुक्ति कथन करी अब इस अध्याय में तत्काल प्राप्त होनेवाली मुक्ति कहते हैं-हे अर्जुन ! तुम हमारे वाक्य पर विश्वास करनेवाले हो इस वास्ते तुम्हारे लिये पूर्वोक्त कहे हुये ज्ञान से बहुत गुप्त अनुभव युक्त, ईश्वर विषयक ऐसा यह ज्ञान हम कहते हैं कि जिसके द्वारा तुम संसार से मुक्त होवोगे ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

दोहा—विद्या राज रहस्यपति, अति पावन यहि जानु ।
धर्म सहित प्रत्यक्ष फल, सुखकर अक्षय ज्ञानु ॥ २ ॥

टीका—यह उत्तम विद्या अत्यन्त गोपनीय, अति पवित्र, सर्वोपरि प्रत्यक्ष फलप्रद, धर्म सहित है इस कारण से आपके करने योग्य है कि जिसका फल अक्षय है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ॥
अप्राप्य मां निवर्त्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

दोहा—यहि मम धर्महि जो मनुज, नहिं आचरहिं सराहिं ॥
नहिं मोहिं पावहिं भ्रमहि शठ, पुनि २ जगमग माँहि॥३॥

टीका—हे परन्तप! इस भक्ति लक्षण ज्ञान सहित धर्म पर जो पुरुष विश्वास नहीं करते वह पुरुष अन्य किसी उपाय से मेरे प्राप्ति के विषय में प्रयत्न करके भी मृत्यु युक्त संसार मार्ग में भ्रमणही किया करते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥४॥

दोहा—विस्तारयो मैं जगत सब, मोहिं न देखे कोय ॥
सबै जीव मोमें बसैं मैंहौं तामें जोय ॥ ४ ॥

टीका—हे अर्जुन! मैंनेही अति सूक्ष्म अन्तर्यामी हो करके भी कारण रूप द्वारा यह सब जगत को व्यापा है और यह समस्त प्राणीमात्र मेरी सत्ता से मेरे विषे सदा सर्वदा रहते हैं तिसपर भी मैं अपने असङ्गत्व के कारण से उक्त भूतों में नहीं रहता हूँ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५ ॥

दोहा—धारण पालन भूत के, करउँ हरउँ नहिं ताहि ॥
देखहु असमय योगयुत, माया वैभव आहि ॥ ५ ॥

टीका—यदि तुम कहो कि आप समस्त भूतों में नहीं रहते तो समस्त भूत तो आप में रहते हैं यह शंका यदि आप मानो तो हे

अर्जुन ! मेरी योगमाया का ऐश्वर्य अद्भुत है इस कारण से उक्त शंका में कुछ भी विरुद्ध नहीं है और दूसरा भी चमत्कार यह देखो कि मैं सब भूतों का धारक और पालक होते भी निरहंकारत्व के कारण मेरी आत्मा उक्त भूतों में नहीं रहती है ॥ ५ ॥

यथाऽऽकाशस्थितोनित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ॥
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

दोहा—महा वायु अरु ब्योम जिमि, ब्यापक हैं सर्वत्र ॥
मोर प्राण सम्बन्ध तिमि, जानि लेहु सर्वत्र ॥ ६ ॥

टीका—जैसे सदैव महान वायु चारो ओर व्याप्त होकर अलग आकाश में है वैसेही जरायुजादि चारो प्रकारके जीव मुझमें होकर अलग हैं यानी वह मेरे साथ सम्बन्ध रखते नहीं हैं ऐसा तुम जानो ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यांति मामिकाम् ॥
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौविसृजाम्यहम् ॥७॥

दोहा—कुन्ती सुत सब भूत मम, प्रकृति में जांहि समाय ॥
प्रलय काल पुनि मैं रचौं, कल्प आदि सब पाय ॥ ७ ॥

टीका—हे कौन्तेय मैं अपनी मायाको आधीन करके बारम्बार प्रलय के समय लीन हुए संपूर्ण जीवों का उन्हीं के कर्मानुसार उत्पन्न करता हूँ ॥७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ॥
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

दोहा—गहि निज प्रकृतिहिं रचौं, पुनि २ भूत समूह ॥
माया बस निज कृत लहहिं, ऊँच नीच तन जूह ॥८॥

टीका—सृष्टि संपादन समय मैं अपनी माया रूप शक्ति का आश्रय करके प्रलयसमयलीन हुए सर्व भूतोंको उन्हींके प्राकृतकर्म

स्वभावके बलसे बारम्बार अनेक भाँति से उत्पन्न करता हूँ ॥८॥

न च माँ तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय ॥

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

दो०—अर्जुन मोकों कर्म वह, कबहूँ बाँधत नाहिं ॥
सदा उदासी रहतु हौं, आसक्तो तिन माहिं ॥ ९ ॥

टीका—हे अर्जुन ! पूर्वोक्त कर्म मुझको बन्धन के कारण नहीं हो सक्ते कारण कि मैं उन कर्मों से इच्छा रहित उदासीन की भाँति रहता हूँ ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम् ॥

हेतुनानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

दो०—सिरजति माया चर अचर, मैं ताकर अध्यक्ष ॥
हेतु यही जग जन्म कर, लखु अर्जुन प्रत्यक्ष ॥ १० ॥

टीका—हे अर्जुन ! यह प्रकृति मेराही आश्रय लेकर समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करता है इसी लिये सम्पूर्ण जगत् मेरे निमित्त मात्र से बारम्बार उत्पन्न हो जाता है ॥ १० ॥

अवजानंतिमां मूढा मानुषींतनुमाश्रितम् ।

परंभावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् । ॥११॥

दो०—मोको मानस जानि कर, आदर करत न कोय ॥
मूरख यह जानत नहीं, यही हैं ईश्वर जोय ॥ ११ ॥

टीका—उक्त रीति से हम समस्त भूतों के नियन्ता हैं तो भी हमने मनुष्य देह धारण किया इसी कारणसे मेरे परम तत्त्वको न जानने वाले मूर्ख लोग मेरा अपमान करते हैं ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ॥

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनींश्रिताः ॥१२॥

दो०—उनकी आशा सुफल नहिं ज्ञान कर्मता भाय ॥
प्रकृति आसुरी राक्षसी, तामे बूड़ैं धाय ॥ १२ ॥

टीका—हे अर्जुन ! जिन पुरुषों की आशा, कर्म और ज्ञान प्राप्त करने में निष्फल है वह पुरुष बुद्धि को मोहित करनेवाली आसुरी और राक्षसी प्रकृति में स्थित जानो ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ॥
भजंत्यनन्यमनसोज्ञात्वाभूतादिमव्ययम् ॥१३॥

दो०—रहित काम सात्विक प्रकृति, गहे मोह बड़ जानि ॥
करि अनन्य मन भजहिं मोहिं, सकल आदि परमानि १३

टीका—हे अर्जुन ! जिन पुरुषों का मन शुद्ध होकर एकाग्र चित्त द्वारा मुझको नाशरहित जगत् का कारण जानकर भजते हैं उन पुरुषों को दैवी प्रकृति में स्थित जानों और वह मेराही भजन करते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ॥
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ताउपासते॥१४

दो०—करहिं सदा गुणगान मम, गहि स्थिर नियम उदार॥
पूजहिं बन्दहि प्रीति युत, लहैं उपासन सार ॥ १४ ॥

टीका—कितने ही पुरुष भक्ति भाव से एकाग्र चित्त द्वारा मेरे स्तोत्रादिकों का पाठ करते हैं, कितने ही भक्ति पूर्वक दृढनियम धारण करके पूजा कर्म में यत्न करते हैं और कितने ही भक्ति से सावधान चित्त होकर हमको साष्टाङ्ग दण्ड प्रणाम करते हैं ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

दो०—मोहि सेवहि ज्ञानी सुजन, जानहु तीन प्रकार ॥

कोउ अभेद कोउ दासमति, कोउ अनेक विस्तार १५

टीका-कितनेही रुष ज्ञान योगसे यजन [पूजा] करते हुये मेरी उपासना करते हैं कोई अपने और मुझमें अन्तर न जानकर, कोई भेद जानकर, कोई अनेक प्रकार से अनेक रूप धारण करने वाला मुझको जानकर भली भाँति भजन करते हैं ॥ १५ ॥

अहंक्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ॥
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

दो०-क्रतु हौं मष हौं हौं स्वधा, भेषज हौं हौं अन्न ॥
मंत्र हमैं हम घृत अनल, होम सकल सम्पन्न ॥ १६ ॥

टीका-हे अर्जुन ! अग्निष्टोम अश्वमेधादिक क्रतु मैं ही हूँ, पञ्चमहायज्ञादि यज्ञ मैं ही हूँ, पार्वण श्राद्धादि कर्म रूपी स्वधा मैं ही हूँ, जिसको प्राणीमात्र भक्षण करते हैं वह अन्नादि औषधि मैं ही हूँ, जिसको देवताओं को और पितरों को होमद्रव्य दिया जाता है वह मंत्र मैंही हूँ, चरुपुरोडाशादि द्रव्यरूप चरु मैं ही हूँ आह्-नीय अग्नि मैं ही हूँ और हवन कर्मभी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ॥
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

दोहा-हम हैं या जगके पिता, मातु पितामह होंहि ॥
कर्म फलद अरु वेदहौं, प्रणव यज्ञ शुचि जोंहि ॥ १७ ॥
गतिपति साक्षी शरण मैं, सुहृद निवासस्थान ॥

सृष्टि स्थिति लय करनमें, अव्यय बीज निधान॥१८॥
गहत तजत वर्षत तपत, प्रभु मैं नितहिं यथार्थ॥
अमृतमृत्यु मैंही करत, सदसत सब मैं पार्थ॥१९॥

टीका–हे अर्जुन! इस सब जगतके पिता, माता, (प्रकृति), पितामह, (अक्षर मायोपाधि ईश्वर), पालन करने वाला जानने योग्य वस्तु (परमब्रह्म, पवित्र वस्तु (सूर्य-अग्नि-वायु-जलादि), बराबर ब्रह्म का वाचक ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्वणवेद, इतिहास-पुराणादि कर्म फल रूपी जगत् को कूर्मादि रूप से धारण करनेवाला व नियन्ता, किये हुए कर्मका साक्षी, जिसके स्वरूप में सब लोक रहते हैं ऐसा निवास, सब की रक्षा करनेवाला, हितकर्ता स्थिति का कारण, (पालक), प्रलय कर्ता और जिस भाँति धातु आदि के नाम नष्ट नहीं होते हैं ऐसा अव्याकृत नाम बीज मैंही हूँ वैसेही सब का जीवन (प्राणधारण करनेवाला) और मृत्यु (प्राण हरण करने वाला) तथा अनेक रूपों करके दृश्य पदार्थ सत् असत् यह सब मैंही हूँ। हे अर्जुन! सूर्यरूप करके मैंही जगत् को तपाता हूँ, मैंही वर्षा बन्द करता हूँ और मैंही वर्षाकाल में जल को बरसाता हूँ, ऐसा मुझ को सर्वात्मकत्व मानकर जो हमारी उपासना करते हैं उनकी ही वह उपासना उत्तम जानना॥ १७॥ १८॥ १९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते। ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोकमश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

दोहा–यज्ञ करत पापन दहत, चाहत स्वर्गहि वास॥
पुण्य करत सुरपुर बसत, भोगत भोग विलास॥२०॥

टीका–तीनों वेदके उपासना करनेवाले, सोमरसके पान करने वाले ऐसे जो जन यज्ञसे मेरी सेवा करते हैं वह पाप रहित होकर

स्वर्ग की इच्छा करते हैं वही लोग पुण्यके प्रभाव से इन्द्रलोक में प्राप्त होकर दिव्य सुखका अनुभव करते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणेपुण्ये मर्त्य-लोकं विशंति ॥ एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गता-गतं कामकामा लभंते ॥ २१ ॥

दो०—भोगि भोग आवत यहाँ, होत पुण्य जब छीन ॥
काम्य कर्म पावत सही, आवागमन नवीन ॥ २१ ॥

टीका–वही लोग विशाल स्वर्ग के सुखको भोग करके पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आते हैं इसी प्रकार से तीनों वेद के अनुसार चलनेवाले कामादि भोगों की इच्छासे गमनागमनको प्राप्त होते रहते हैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ॥ तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

दोहा–मो चिन्ता चितमें धरत, है अनन्य मम भक्त ॥
योगक्षेम तिनकर करत, जो जिमि मो महँ सक्त ॥२२॥

टीका--जो मेरे भक्त अनन्यभाव (मेरे बिना अन्य किसी विषयमें आसक्त न होकर) से निरन्तर मेराही चिन्तवन करते हुये मेरी ही सेवा करते हैं उन नित्य मेरे परायण व मेरी निष्ठोमें रहनेवाले लोगों का योगक्षेम (अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तुकी रक्षा) मैं ही भली भाँति करता हूँ ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः ॥ तेऽपि मामेव कौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

दो०—जो जन अपर सुरन भजैं, श्रद्धायुत मति लीन ॥
भजहिं मोंहि तेउ पृथासुत, तदपि अजानु विधिहीन २३

टीका-जो पुरुष भक्तियुक्त अन्य देवताओं की पूजा करते हैं वहभी अविधिसे मेरीही पूजा करते हैं ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
न तु मामभिजानंति तत्वेनातश्च्यवंतिते॥२४॥

दो०-सब यज्ञन भोगत महीं, मैं प्रभु फल दातार ॥
मोर सत्त्व जानत नहीं, जन्म सहत संसार ॥२४॥

टीका-इन्द्रादि देवताओं के स्वरूप से श्रौत-स्मार्त आदि यज्ञोंका भोक्ता और उनका स्वामी भी निश्चय करके मैं ही हूँ परन्तु वह लोग मेरे स्वरूप को यथार्थ रीति से निश्चयपूर्वक नहीं जानते इसी कारण से वह परम पुरुषार्थ स्वरूप मोक्ष को नहीं पाते हैं ॥ २४ ॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ॥
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपिमाम्॥

दो०-देव भक्त देवन लहत, पितृ भक्त पितृलोक ॥
भूत भक्त भूतन लहत, मोर भक्त मम लोक ॥२५॥

टीका-देवता, पितर और जीवोंके उपासना करनेवाले पुरुष इन्द्रादिलोक, पितरलोक संसारी होकर मृत्युलोक को क्रमानुसार उक्त देवताओं के भजन करनेवाले पाते हैं परन्तु जो पुरुष मेरा भजन पूजन भेद बुद्धि व अभेद बुद्धि से (सगुण निर्गुण) युक्त होकर करते हैं वह मेरे परमधाम को पाते हैं ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

दो०-पान फूल फल जल हमहिं, भक्ति सहित जो देय ॥
जानि भक्त निज कृपा युत, ग्रहण करौं बहुतेय ॥२६॥

टीका-जो मेरा भक्त मुझको पत्र, फूल, फल,जल जो कुछ

भक्तिभाव युक्त अर्पण करता है उस शुद्ध चित्त पुरुष को उत्तम भक्ति से दिया हुआ वह पदार्थ मैं अत्यन्त प्रीति से ग्रहण करता हूँ ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ॥
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि २८

दोहा—कर्म करत भोजन करत, हवन करत जो देत ॥
अर्जुन जो तू तप करत, करु अर्पण मम हेत ॥२७॥
इमि कीन्हे शुभ अशुभ फल, बन्धन कर्म नसाय ॥
यहि योगहि गहि चित सदा, लहिहौ मोहिं बनाय ॥२८॥

टीका-इसलिये हे अर्जुन ! तुम जो लोगोंके सम्मत व असम्मत कर्म करते हो, जो अनायास से प्राप्त हुआ अन्न भक्षण करते हो, जिस चरु पुरोडाशादि होम द्रव्य का हवन करते हो, अन्न, धन, धान्य आदि जिस वस्तु का दान करते हो, सन्ध्यावन्दन आदि जो तप करते हो वह सब मुझको अर्पण करो। इस भाँति ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने पर तुम शुभ अशुभ फलरूप कर्मों के बन्धनों से मुक्त होवोगे इस प्रकार मुक्त होकर मेरे में ईश्वरार्पण बुद्धि द्वारा मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जावोगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
येभजंति तु मां भक्त्या मयिते तेषु चाप्यहम् २९

दो०—मैं सब जीवन सम रमौ, सखा शत्रु मम नाहिं ॥
भजहिं भक्ति युत नेह मोंहि, मोहिं महँ ते हमताहिं ॥२९॥

टीका—हम समस्त भूतों में एक समान वास करते हैं इस कारण मेरे न कोई प्रिय है न कोई अप्रिय (शत्रु) ही है इस पर भी

जो पुरुष भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं वह हमारे में रहते हैं और उनमें मैं भी रहता हूँ ॥ २९ ॥

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ॥
साधुरेव स मंतव्यःसम्यग्व्यवसितोहि सः॥३०॥

दो०—दुराचार मोको भजै, ह्व अनन्य के भाय ॥
ताको तुम साधुहि गनो, शुभ निश्चयके दाय ॥ ३० ॥

टीका—जो मेरा भक्त दुराचारी भी होकर अनन्य भाव से मेरा भजन भक्ति भाव युक्त करता है वह शुभकारी साधुही मानने के योग्य है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिंनिगच्छति॥
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तःप्रणश्यति॥३१॥

दो०—बेगि होय धर्मातमा, शान्ति लहै बहुभाय ॥
अर्जुन निश्चय जानि तू, नहिं मो भक्त नशाय ॥३१ ॥

टीका—इसीसे वह मेरा भक्त शीघ्रही थोड़े काल में धर्मात्मा (शुद्धचित्त) हो जाता है और वह चित्त की विकलता के नाश करने वाली परमेश्वर की निष्ठा पाता है इस वास्ते हे कौन्तेय ! मेरा भक्त दुराचारी भी क्यों न हो परन्तु नाश को नहीं प्राप्त होता वह कृतार्थ ही होता है ऐसा तुम निश्चय करके जानो॥३१॥

मां हि पार्थव्यपाश्रित्ययेऽपिस्युः पापयोनयः॥
स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपियांतिपरांगतिम्३२

दो०-भजहिं मोहिं जो हीनकुल, जन्म लहेउ पुनि जेउ ॥
वैश्य शूद्र तिय नीच बहु, लहहिं परमगति तेउ ॥३०॥

टीका—हे पार्थ ! हमारी भक्ति आचार भ्रष्टों को भी पवित्र करती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं । अरे ! अत्यन्त नीच योनि

में जन्म लेने वाले चण्डालादिक वैश्य शूद्र वह भी हमारी भक्ति को करके पवित्र होकर उत्तम गति को पाते हैं इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ३२ ॥

किंपुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ॥
अनित्यमसुखं लोकमिमंप्राप्यभजस्वमाम् ॥३३॥

दो०—किमि कहिये ये पुण्य कुल, द्विज क्षत्रिय तनपाव ॥
लहि नर तन चल असुखकर, भजहु मोहिं सब भाव ॥३३॥

टीका—फिर पुण्य कर्म करनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय यह लोग मेरी भक्ति को करके उत्तम गति को पाते हैं इसमें क्या आश्चर्य है ? इस कारण हे अर्जुन ! अनित्य असुख ऐसे इस लोक को पायकर तुम मत भूलो मेरा भली भाँति भजन करो ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसियुक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता राजविद्या राजगुह्य योगो
नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दो०—मोहिं सेवहु मोहिं मन धरहु, मोहिं पूजहु मोहिं बन्दु ॥
मोहि मन राखि परम अयंन, लहिहौ मोहिं अनन्दु ॥३४॥

टीका—हे अर्जुन ! इसी भाँति तुम भी हमारे ही में मन राखो, हमारे भक्त हो, हमारी ही प्राप्तिके लिये पूजन आदि करो, हमारे ही को नमस्कार करो इस प्रकार से हमारा भजन करने से तुम भी हमको प्राप्त होवोगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पं० महाराज-
दीन दीक्षित कृते भाषा टीका दोहा व्याख्या कृते राज
विद्या राजगुह्य योगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः प्रारम्भः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ॥
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

दोहा—महाबाहु पुनि सुनहु मम, वचन सहित परमार्थ ॥
लहहु प्रीति सुनि जेहिसो, कहिहौं तुव हित पार्थ ॥१॥

टीका—श्रीकृष्णचन्द्र भगवानने कहा कि–हे अर्जुन ! और एक उत्तमोत्तम वार्ता सुनने योग्य है उसको आपके हित जानकर कहता हूँ उसे भी सुनो ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ॥
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

दोहा—मोर जन्म जानत नहीं, जे सुर मुनि ब्रह्मादि ॥
अर्जुन जाते हो सही, तिय सबकर मैं आदि ॥ २ ॥

टीका—हे अर्जुन ! इन्द्रादि देवता, महत्तत्वादि समस्त संसार के उत्पन्न करनेवाले व्यासादि महर्षिभी मुझ परमेश्वर के अवतारादि जन्म कर्मको भली भाँति नहीं जानते कारण कि सब देवताओं और महर्षियों के उत्पत्ति आदि का मैं ही सब प्रकार से आदि कारण हूँ ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

दोहा—जो जानहि मोहिं अनादि अज, जो जन सबके ईश ॥
ते न लहहि कबहूँ मनुज, मोह पाप गत दीश ॥ ३ ॥

टीका—जो पुरुष मुझको उत्पत्ति रहित सनातन और सम्पूर्ण

लोक का ईश्वर जानता है सो पुरुष मनुष्यों में मोह रहित होकर सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ॥
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥५॥

दो०—आतम ज्ञान सुमति क्षमा, शम दम जनम विनाश ॥
सुख दुख मोह अभाव पुनि, नहिं न आस पुनि त्रास ॥
दान अहिंसा तप अयश, भिन्न भिन्न सविशेष ।
समता अरु सन्तोष यश, मोसन होहिं अशेष ॥ ५ ॥

टीका—समस्त पुरुषों के नियमप्रद हम हैं इसकारण हमारेही पास से बुद्धि, ज्ञान, निर्मोह, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय, जय, मनोजय, सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय, अहिंसा, समता सन्तोष, तप, दान, यश, अयश, यह और इनसे विपरीत अबुद्धि अज्ञान आदि नाना प्रकार के भाव प्राणियों को प्राप्त होते हैं इस लिये हे अर्जुन ! तुम भी मेरा आश्रय करके उत्तम भाव को सम्पादन करो ॥ ४ ॥ ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ॥
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाःप्रजाः॥६॥

दो०—भृगु आदिक ऋषि सात मुनि, पूर्व चारि सनकादि ॥
मानस प्रकटे हमहिं ते, लोक प्रजापति आदि ॥ ६ ॥

टीका—हे अर्जुन ! भृगु आदि सप्त महर्षि इनसे भी पहिले चार सनकादि महर्षि स्वायम्भुवादि चौदह मनु यह सब मेरे समानही प्रभाववाले हिरण्यगर्भ रूप धारण करनेवाले मेरे मनके

संकल्प मात्र से उत्पन्न हुये हैं कि जिनसे तीनों लोकों में यह समस्त प्रजा उत्पन्न हुई है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥

दो०—मम विभूति मम ईशता, जो जब जानहि तत्व ॥
रहहिं ज्ञान अविचल मनुज, सो असमोर महत्व ॥ ७ ॥

टीका—जो पुरुष मेरी विभूति और चतुरता को यथार्थ रूपसे भली भाँति जानता है सोई पुरुष निश्चल चित्त द्वारा निस्सन्देह एकाग्र समाधि में युक्त होता है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ॥
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

दो०—हम समस्त जगके प्रभव, मोसे सब उत्पन्न ॥
भजहिं मोहिं अस जानि बुध, भावसहित ब्युत्पन्न ॥८॥

टीका—हे अर्जुन ! मैं ही सब जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और बुद्धि ज्ञान आदि सब भाव भी मेरेही पाससे सभीको प्राप्त होते हैं ऐसा जानकर विवेकी पुरुष भक्ति भाव युक्त परम प्रीति द्वारा मेराही भजन करते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम् ॥
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥९॥

दो०—ममगत करि जे प्राण चित्त, करत परस्पर बोध ॥
कहत तुष्ट ते मो चरित, लहत मोक्ष सुखशोध ॥ ९ ॥

टीका—और हमारेही विषे चित्त और प्राणों का समर्पण करके श्रुत्यादि प्रमाणों के द्वारा परस्पर आत्मतत्त्व का बोध करते हैं और अपने हृदयमें निश्चय किये हुए अर्थों को शिष्यों प्रति कहते हुये सन्तोष और सुख को पाते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥१०॥

दो०–सन्तत मोहिं आसक्त जे, भजहिं सहित अनुराग ॥
ज्ञान योग मैं देहुँ तेहि, जेहि मोहिं लहहिं सुहाग ॥१०॥

टीका–इस भाँति जो भक्त मेरेही में मन लगाये हुये और प्रीति पूर्वक मेराही भजन करते हैं उन भक्तों को मैं उत्तम बुद्धि देता हूँ कि जिससे वह मुझ को पाते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहज्ञानजं तमः ॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेनभास्वता ११

दो०–तासु अनुग्रह हेतु हम, नाशहिं तम अज्ञान ।
दीपक ज्ञान प्रकाश हिय, तिनके मति सब जान ॥११॥

टीका–उक्त भक्तों की अनुग्रह के लिये मैं उनकी बुद्धि में स्थित होकर दैदीप्यमान ज्ञानरूपी दीपक से अज्ञान जनित संसारी अन्धकार को नाश करता हूँ ॥ ११ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ॥
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे १३

दो०–ब्रह्म परम आश्रय परम, पावन परम सुजान ।
स्वप्रकाश अज पुरुष स्थिर, आदिदेव भगवान ॥१२॥
कहहिं सकल ऋषि अस तुमहिं, नारदसुर मुनि जोहि ।
द्वैपायन देवल असित आपु कहहु पुनि मोहिं ॥ १३ ॥

टीका–उक्त श्री कृष्णके कथनको सुनकर अर्जुन बोले कि–हे भगवन्! परमब्रह्म, श्रेष्ठ स्थान, महान् और पवित्र पुरुष तो आपही हो कि जिसको भृगु आदि ऋषि, नारदादि देवर्षि आसित देवल, व्यास आदि ऋषि तुमको पुरुष शाश्वत, दिव्य, आदिदेव अजन्मा और विभु कहते हैं और आपभी अपने मुखारविन्द से वैसाही अपने को कहते हो ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ॥
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः १४

दो०–हम जानहिं सब सत्य यह, कहहु कृष्ण मोहिं जोय ॥
देव दनुज जानत नहीं, तुव स्वरूप जन कोय ॥१४॥

टीका–हे केशव! जो जो आपने मुझसे कहा वह सब मैं सत्य मानता हूँ-हे भगवन्! हमारे अनुग्रहार्थ यह आपका अवतार है सो देवता दानवादि कोई जानता नहीं है दूसरा अर्थ यह है कि आपके रूप, गुण, पराक्रम को आपही जानते हो देवता आदि कोई भी नहीं जानते हैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ॥
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

दो०–आपुहि जानहु आपु करि, आपुहि तुम जगदीश ॥
जन पालक भूतादि पति, देव देव मम ईश ॥ १५ ॥

टीका–हे पुरुषोत्तम! आप आपही अपने स्वभावसे अपनेको जानते हो और आपही समस्त जीवों को उत्पन्न करके विद्यमान करने वाले हो और आपही देवताओं के देवता और जगत् के स्वामी हो ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्याह्यात्मविभूतयः
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्यतिष्ठसि॥

दोहा—कहहु नाथ अद्भुत विमल, अपनी सकल विभूति ॥
ज्यहि विभूति करि व्यापिजग, बसहुकरहु बहु ऊति॥१६॥

टीका—हे कृष्ण ! निज विभूतियों से तुम समस्त संसार को व्याप्त करके रहते हो उन विभूतियों के वर्णन करने को आपही समर्थ हैं कारण कि उक्त विभूति अत्यन्त अद्भुत है ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ॥
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

दोहा—किमि जानौं प्रभु तोहि मैं, चिन्तन सदा अनन्त ॥
कवन कवन किमि भाव में, मैं चिन्तौं भगवन्त॥१७॥

टीका—हे भगवन् ! आप की विभूति ज्ञानसे मैं सदैव आप को चिन्तवन करूँगा, सोई मैं नहीं जानता और मैं कैसे आप को चिन्तवन करूँ, आप किस २ पदार्थ में किस २ रूप से चिन्तवन करने योग्य हो ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ॥
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्तिमेऽमृतम् ॥

दोहा—करि विस्तार हरि कहहु निज, योग विभूति प्रमान ॥
सुनत तृप्ति नहिं मोहि प्रभु, जिमि अमृत के पान ॥१८॥

टीका—हे जनार्दन ! आप अपने माया रचित ऐश्वर्य को और अपनी विभूतियों को विस्तारपूर्वक फिर वर्णन करिये कारण कि आपके वचन रूपी अमृत को पान करते हुये मुझ को तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

* श्रीभगवानुवाच *

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
प्राधान्यतःकुरुश्रेष्ठनास्त्यन्तोविस्तरस्य मे॥१६॥

दोहा—निज विभूति तोसों कहत, जे हैं दिव्य प्रधान ॥
अर्जुन कोऊ नहिं लहत, मो विस्तार प्रमान ॥ १९ ॥

टीका—उक्त अर्जुन की प्रार्थना को सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रजी कृपायुक्त होकर बोले कि-हे कुरुश्रेष्ठ ! अर्जुन मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है इसलिये मुख्य २ विभूतियों को वर्णन करूँगा ॥

अहमात्मागुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एवच ॥२०॥

दोहा—हम आत्मा सब भूत के, करहिं सबन हिय वास ॥
आदि मध्य हम अन्त हम, सब मम प्रकृति विलास ॥२०॥

टीका—हे जितेन्द्रिय ! अर्जुन सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में रहनेवाला परमात्मा मैं ही हूँ और सब भूतों की उत्पत्ति पालन, संहार होने का कारण भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ॥
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

दोहा—आदित्यनि महँ विष्णु हम, परकाशनि महँ भानु ॥
पवननि महँ मरीचि हम, नक्षत्रमहँ शशि जानु ॥२१॥

टीका—हे अर्जुन ! बारह आदित्यों में विष्णु नामक आदित्य मैंही हूँ, अग्नि आदि ज्योतियों में विश्व व्यापक किरण सूर्य मैं ही हूँ उनचास मरुद्गणों में मरीचि और अश्विनी आदि नक्षत्रों में चन्द्रमा मैंही हूँ ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ॥
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

दोहा—सामवेद महँ वेद हम, देव गणनि पुरहूत ।
मन इन्द्रिय महँ भूत महँ, चेतनि हम अतिपूत ॥२२॥

टीका-चारों वेदों में सामवेद, देवतों में इन्द्र, ज्ञानेन्द्रियों में मन, जीवों में ज्ञान, शक्ति मैं ही हूँ ॥ २२ ॥

रुद्राणांशंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ॥
वसूनांपावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् २३

दोहा-रुद्रनि में शंकरजु हों, यक्षनि माँझ धनेश ॥
पावक हौं मैं बसुन में, शैल सुमेरु सुदेश ॥ २३ ॥

टीका-रुद्रोंमें शंकर, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर, आठ वसुवों में अग्नि, शिखरवाले पर्वतों में मेरु मैंही हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ॥
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ।२४॥

दोहा-देव पुरोहित सकल महँ, हमहिं बृहस्पति जानु ॥
कार्तिकेय सैनेश महँ, सर मह सागर मानु ॥ २४ ॥

टीका-हे पार्थ ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति, सेनापतियों में स्वामिकार्तिकेय, जलाशयों में सागर मैंही हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ॥
यज्ञानांजपयज्ञोऽस्मिस्थावराणांहिमालयः॥२५॥

दोहा-महाऋषिन महँ भृगु हमैं, प्रणव गिरानि सुहाहिं ॥
यज्ञन महँ जप यज्ञ हम, हिमगिरि स्थावर माहिं ॥२५॥

टीका-महर्षियों में भृगु, वाणी के मध्य ॐकार, यज्ञों में जप यज्ञ स्थावरों के मध्य हिमाचल हमी हैं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ॥
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलोमुनिः ॥२६॥

दो०-पीपल हौं तरु सर्व में, नारद हौं देवर्षि ॥
चित्ररथहिं गंधर्व में, सिद्ध मध्य कपिलर्षि ॥ २६ ॥

टीका—समस्त वृक्षों के मध्य पीपल वृक्ष, देवर्षियों के मध्य नारद ऋषि, गन्धर्वों और सिद्धों के मध्य कपिल मुनि मैंही हूँ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ॥
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

दो०—अश्वनि महँ उच्चैश्रवा, प्रगटे पयनिधि जाइ ॥
ऐरावत गजराज महँ, नरपति नर समुदाइ ॥ २७ ॥

टीका—अश्वों (घोड़ा) के मध्य उच्चैःश्रवा, हाथियों में ऐरावत, मनुष्यों के मध्य राजा हमी को जानों ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ॥
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

दोहा—आयुध महँ मैं वज्र हौं, जन्म हेतु कन्दर्प ॥
धेनुन महँ सुर धेनु हौं, सर्पन वासुकि सर्प ॥ २८ ॥

टीका—शस्त्रों में वज्र, गौवों में कामधेनु, प्रजा उत्पन्न करने वालों में कामदेव, सर्पों में वासुकी मैं ही हूँ ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ॥
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

दो०—शेषनाग हम नाग महँ, जलचर महँ पति पाथ ॥
पितरन महँ हम अर्यमा, नियम करन यम नाथ ॥२९॥

टीका—सर्पों में अनन्त, जलवासियों में वरुण, पितृगणों में अर्यमा, दण्ड देने वालों में यमराज मैंही हूँ ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दोहा—दैत्यन में प्रहलाद हम, प्ररन हारो काल ॥

सिंह हौं मैं सब मृगनि में, पच्छिनमें रिपुव्याल ॥ ३० ॥

टीका-दैत्यों में प्रह्लाद, नाश करनेवालों में काल मृगों में राजसिंह, पच्छियों में गरुड़ मैं ही हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ॥
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

दोहा-शुद्ध कारकनि पवन हम, शस्त्र धरन महँ राम ॥
अहैं तिमिगल मत्स्य महँ, गंग सरित्परि नाम ॥ ३१ ॥

टीका-वेगवानों के मध्य वायु, शस्त्रधारियों के मध्य राम, मत्स्य जातियों के मध्य मकर नाम जलाशयों के मध्य गंगा हमाराही नाम है ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ॥
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

दोहा-आदि मध्य हम अन्त हैं, सकल सृष्टि कर पार्थ।
विद्या महँ अध्यात्म्य में, बाद माँहि तत्वार्थ ॥ ३२ ॥

टीका-हे अर्जुन ! सर्ग (आकाशादि) की आदि मध्य अन्त करने वाला, चौदह विद्याओं में आत्मज्ञान, वाद वादियों में तत्त्व निर्णय वाला मैंही हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ॥
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

दोहा-अच्छर महँ ओंकार हम, सब समास महँ द्वन्द ॥
अविनाशी हम काल हम, चारि बदन जगबन्द ॥ ३३ ॥

टीका- अक्षरों के मध्य अकार, समासोंके मध्य द्वन्द्व, समस्त काल के मध्य में कालरूप, कर्मफल देने वालों में विश्वतोमुख हमी हैं ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥
कीर्तिः श्रीर्वाक्‌च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

दोहा—सर्व हरण हौं मृत्यु मैं, हौं पुनि मैं ही भाग ॥
नारि क्षमा श्री कीर्ति मैं, स्मृति धृति मेधा बाग ॥३४॥

टीका—संहार करनेवालों के मध्य मृत्यु, होनहार में भाग्योदय रूप, समस्त स्त्रियों के मध्य कीर्ति, श्री (लक्ष्मी) व शोभा, वाणी, स्मृति, मेधा, (बुद्धि) धैर्य, क्षमा यह सब मैंही हूँ ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ॥
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

दोहा—महासाम हौं साममों, गायत्री हौं छन्द ॥
मार्गशीर्ष हौं मास में, ऋतु वसन्त सुखकन्द ॥ ३५ ॥

टीका—साम और ऋचाओं के मध्य बृहत्साम, छन्दों के मध्य गायत्री छन्द, महीनों में अगहन, ऋतुओं में वसन्त मैंही हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ३६

दोहा—तेजवन्त के तेज हौं, द्यूत छलन महँ तत्त्व ॥
जय हम उद्यम हम हमें, सात्विक उनके सत्व ॥३६॥

टीका—छलियों में जुवा, तेजस्वियों में तेज, जय शालियों में जय, उद्योगियों में व्यवसाय, सत्ववानोंमें सत्व मैंही हूँ ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ॥
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

दो०—वासुदेव हम वृष्णिकुल, पाण्डु सुतन हम पार्थ ॥

कविन माहँ हम शुक्र पुनि, मुनि महँ व्यास समर्थ ॥३७॥

टीका-वृष्णि वंशियों में मैं जो तुमको उपदेश कर रहा हूँ, पाण्डवों में तुम मेरी विभूति हो, मुनियों में वेदव्यास, कवियों में शुक्राचार्य मैंही हूँ ॥ ३७ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ॥

मौनं चैवास्मिगुह्यानांज्ञानंज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दो०-दण्ड धरन के दण्ड हम, जय कामनि नय जान ॥

गोप्यन महँ हम मौन हैं ज्ञानवन्त में ज्ञान ॥ ३८ ॥

टीका-शिक्षा देनेवालों में दण्ड, जीतने वालों में नीति, गोपनीयों में मौन ज्ञानियों में ज्ञान मैंही हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ॥

न तदस्ति विनायत्स्यान्मयाभूतंचराचरम्॥३९॥

दो०-सब भूतन के बीच हम, अर्जुन मोको जान ॥

नहिं अस जग कोउ जान हम, सकल चराचर मान ॥३९॥

टीका-हे अर्जुन ! सम्पूर्ण जीवों का जो कारण है सो मैंही हूँ कारण कि बिना कारण के कुछ भी नहीं हो सक्ता इस लिये चराचर का कारण मैंही हूँ ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

दो०-मम विभूति को अन्त नहिं, रिपु सूदन मतिमान ॥

करि संक्षेप कह्यो हम, निज विभूति परिधान ॥ ४० ॥

टीका-हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है यहाँ पर मैंने तुमसे संक्षेप से वर्णन किया है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥

तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

दो०—जो जो देखहु जीव जग, सोम वंश अवतंश ॥
श्रीयुत बलयुत तेजयुत, सो जानहु मम अंश ॥ ४१ ॥

टीका—हे अर्जुन ! जो जो वस्तु ऐश्वर्य युक्त, शोभा युक्त, सामर्थ्य युक्त हैं सो सो हमारी ही चित्तशक्ति से अंश भूत सब विभूतियों को जानो ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ॥
विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेनस्थितोजगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भग० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

दो०—भिन्न भिन्न जाने कहा, अर्जुन हृदय बिचार ॥
व्यापि रहे हम सकल जग, हम जग सकल उदार ॥१०॥

टीका—हे अर्जुन ! इन विभूतियोंको पृथक् २ जान कर क्या तुम्हारा अर्थ होगा सबका मुख्य मतलब यह है कि यह समस्त जगत् हमारे एक अंश से व्याप्त हो रहा है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे पं०महाराज दीन दीक्षित कृत भाषा टीका दोहा व्याख्या कृते विभूति योगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ ६ ॥
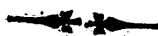
❀ अथ एकादशो ध्यायः प्रारम्भः ❀

* अर्जुन उवाच *

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ॥
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

दो०—मोपर कीन्ही है दया, अध्यातम प्रकटाय ॥
बचन तिहारो सुनतही, मोह गयो जु बिलाय ॥ १ ॥

टीका-श्री कृष्णचन्द्र से वर्णित उक्त विभूतियों को सुनकर अर्जुन बोले कि-हे भगवान! हमारे ऊपर परम अनुग्रह करके यह परमार्थ निष्ठ, अति गोप्य आत्मज्ञान विषयक विभूतियों को वर्णन करते हुए जो बचन आपने कहे इसीसे मेरा भ्रम जनित ज्ञान (मैं मारने वाला और यह सब मरने वाले) रूपी मोह दूर हो गया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ॥
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाऽव्ययम् ॥२॥

दो०—जीवन की उतपति सुनी, और प्रलय की रीति ॥
कही जो तुम विस्तार सौं, आतम की शुभ नीति ॥२॥

टीका—हे श्री कृष्णचन्द्र! मैंने जीवों की उत्पत्ति और नाश बारम्बार आपसे सुना और आपका सृष्टि कर्तृत्वादि माहात्म्य जो अक्षय है उसको भी मैंने सुना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थत्वमात्मानं परमेश्वर ॥
द्रष्टमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

दो०—अस यह निज कहँ कह्यो जस, पुरुषोत्तम परमेश ॥
विश्वरूप मै लखन तस, चाहौं मैं कमलेश ॥ ३ ॥

टीका—हे परमेश्वर? जिस प्रकार से आपने मुझ प्रति निज स्वरूप वर्णन किया है सोई आपका ईश्वर सम्बन्धी विश्वरूप मैं देखने की इच्छा करता हूँ ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

दो०—देखि सकैं जो रूप तव, जो जानहु यदुराय ॥
मोहि देखावहु रूप निज, परम पुरुष गृहराय ॥ ४ ॥

टीका—हे प्रभो! यदि आपके उस स्वरूप को मैं देख सकूँ तो

हे योगेश्वर ! आप अपना नाश रहित नित्य स्वरूप रूपको मुझे दिखावो ॥ ४ ॥

* श्रीभगवानुवाच *

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥

दो०—अर्जुन अब तू देखिले, शत सहस्र मो रूप ॥
बहुत भाँति हैं दिव्य जो, नाना वर्ण अनूप ॥ ५ ॥

टीका—यह अर्जुन की प्रार्थनाको सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रने कहा कि-हे पार्थ ! माया के द्वारा अनेक प्रकार से उत्पन्न होने के कारण अलौकिक और नाना प्रकार के वर्ण व आकृतियोंसे युक्त ऐसे सैकड़ों हजारों मेरे स्वरूपको अभी देखो ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

दो०—अचरज मय बहु जो प्रथम, लखे न रूप भुवार ॥
लखौ रुद्र रवि मरुत तुम, बसु अश्विनी कुमार ॥ ६ ॥

टीका—हे अर्जुन ! बारह आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र, दो अश्विनी कुमार, उन्चास मरुद्गण यह सब मेरी देह में देखो हे भारत ! जिनको आपने या अन्य किसी दूसरे जन ने आज तक कभी न देखे हुये होंगे ऐसे नाना भाँति के अद्भुत स्वरूप को देखो ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ॥
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥७॥

दो०—यही एक स्थिति जगत, चर अरु अचर समेत ॥
मम तन महँ देखहु अपर, देखन चाहहु जेत ॥ ७ ॥

टीका-हे गुडाकेश ! अर्जुन मेरे शरीर में चराचर जगत् को देखो और जो वस्तु देखने की इच्छा होवे उसे भी देखलो ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ॥
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

दो०-देखि सकहु नहिं मोहिं तुम, चर्मदृष्टि करि येहि ॥
ज्ञान दृष्टि देहौं लखहु, मम प्रभाव सुन जेहि ॥ ८ ॥

टीका-हे अर्जुन ! तुम इन नेत्रों के द्वारा मेरे अद्भुत रूप को नहीं देख सकोगे इस कारण से मैं तुम को दिव्यदृष्टि देता हूँ कि जिससे तुम मेरे विश्वरूप को देखो ॥ ८ ॥

* संजय उवाच *

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ॥
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

दोहा-अस कहि योगेश्वर महा, पारथ हित महिपाल ।
विश्वरूप निजरूप तब, प्रगटे परम दयाल ॥ ६ ॥

टीका-सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि-हे राजन् ! इस भाँति श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुन प्रति कहकर दिव्यदृष्टि देकर अपना अलौकिक विश्वरूप देखाते भये ॥ ६ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ॥
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

दो०-बहु मुख जहँ बहु नयन जहँ,बहु अचरज जहँ दीश ॥
दिव्य आभरण बहु लसैं, बहु आयुध धर ईश ॥१०॥

टीका-कि जिस विश्वरूप में अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक अद्भुत पदार्थ युक्त, अनन्त दिव्य आभूषणों को धारण किये, अनन्त आयुधों (शस्त्र) से सुशोभित हैं ॥ १० ॥

दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ॥
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दो०—दिव्य वस्त्र अरु माल धर, दिव्य गन्ध अनुलेप ॥
सब अचरज मय देव वर, सब तन मुख जेहिरूप ॥११॥

टीका—दिव्य वस्त्र और दिव्य मालाओं से युक्त अति उत्तम चन्दनादि की सुगन्धि को लेपन किये, समस्त आश्चर्जित वस्तुओं के निधान, अपनेही तेज से प्रकाशमान, अनन्त (अपरिच्छिन्न) रूप युक्त जिसमें चारों ओर मुखही दिखलाई देते हैं ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ॥
यदि भाः सदृशीसास्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

दोहा—उदय होहिं नभ सहस रवि, एक काल सम भास ॥
जो अस होय तुलै कबहिं, प्रभुके परम प्रकास ॥१२॥

टीका—एकही समय आकाश में हजारों सूर्य उदय हों तत्तुल्य तेजको धारण किये तेजस्वी श्रीकृष्ण चन्द्रजी का विश्वरूप (विराटरूप) अर्जुन ने देखा ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ॥
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥

दोहा—तबहिं विराट शरीर महँ, बहु प्रकार करि भक्त ॥
श्रीअर्जुनने लख्यो तहँ, एक स्थित सब जक्त ॥ १३ ॥

टीका—उस समय अर्जुन ने उस श्रीकृष्णचन्द्र के विराट रूप में समस्त जगत् अनेक प्रकार के विभाग से इकट्ठा हुआ देखा ॥ १३ ॥

ततः सविस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ॥
प्रणम्याशिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

दोहा-तेहि अवसर विस्मय सहित, सो अर्जुन कर नाथ ।
जोरे हाथ प्रणाम करि, कहत भयो सुर नाथ ॥ १४ ॥

टीका-उक्त रूपको देख कर आश्चर्य युक्त रोमाञ्चित हुये अर्जुन श्री भगवान् के हाथ जोड़कर मस्तक नवाय नमस्कार करते हुये बोले ॥ १४ ॥

॥ अर्जुनउवाच ॥

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथाभूतविशेष संघान् ॥ ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

दोहा-सब प्राणी सब देव सब, उरग विधाता ईश ॥
कृष्ण लखौं में ऋषिहु सब, तव तन बिश्वा बीश॥१५॥

टीका-हे देव ! इस आपके शरीर में सब देवता, समस्त प्राणी मात्र का समूह, सब देवों के स्वामी ब्रह्मा, वसिष्ठादि समस्त ऋषि, तक्षकादि सब सर्प हम देखते हैं ॥१५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रंपश्यामित्वांसर्वतोऽनंतरूपम् नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामिविश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥

दोहा-बहु बाहू मुख नेत्र उदर, आदि मध्य न अन्त ।
विश्वरूप तुम में लखौं, तुमहो सबसे अनन्त ॥ १६ ॥

टीका-हे विश्वेश्वर ! आपके चारों ओरसे बहुतसे हाथ, उदर, मुख नेत्र हैं आपके स्वरूप का आदि अन्त नहीं देखता हूँ हे विश्वरूप ! वैसाही आपका आदि मध्य अन्त भी नहीं देखता हूँ ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्॥ पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंता-द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

दोहा—अमित चक्र-गद-मुकुट-धर, अलख अग्नि रवि भास ॥
दीपित सब थल छबि निकर, तोहिं लखों चहुँआस ॥१७॥

टीका—हे भगवन् ! किरीट, मुकुट, गदा, चक्र को धारण किये, सर्वत्र प्रकाशमान, अग्नि और सूर्य के तेजसे अधिक दैदीप्यमान, तेजोराशिरूप युक्त ऐसे आश्चर्जित रूपको देखता हूँ कि जिसका प्रमाण भी न हो सके ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमंवेदितव्यंत्वमस्याविश्वस्यपरंनि-धानम् त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातन-स्त्वं पुरुषो मतोमे ॥ १८ ॥

दोहा—ज्ञातव्याक्षर परम पर, तुम यहि विश्व निधान ॥
रक्षक धर्म निरन्तर, पुरुष सनातन मान ॥१८॥

टीका—केवल मुमुक्षुओं के ही जानने योग्य- अविनाशी, ब्रह्मरूप, जगत् का आश्रय आपही हो और विकार शून्य, वैदिक धर्म के पालक, शरीरमात्र में रहने वाले आपही को मैं मानता हूँ ॥ १८ ॥

अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंतबाहुंशशिसूर्य नेत्रम् पश्यामित्वांदीप्तहुताशवक्त्रंस्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

दोहा—रविशशिचख मुख ज्वलितशुचि, जग निज तेज तपाव ॥
आदि मध्य अन्तहि रहित, बल भुज अमितलखाव ॥१९॥

टीका-हे श्रीकृष्ण! आदि, मध्य, अन्त रहित अमित प्रभावयुक्त, परम पराक्रमशाली भुजाओं से सुशोभित, चन्द्र, सूर्य नेत्र हैं जिसके, मुखमें दैदीप्यमान अग्नि की ज्वाला प्रकाशित हो रही है मानों समस्त जगत्को अपने तेज से दग्ध करती है ऐसा यह आपका रूप मैं देखता हूँ ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्चसर्वाः ॥ दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

दोहा-आपहि के इस रूप से, व्योम दिशा सब मीत ॥
दारुण तुम्हरो रूप यह, लखि त्रिभुवन भय भीत ॥

टीका-हे महात्मन्! इस आपके शरीर से आकाश और दशो दिशायें व्याप्त हो रही हैं ऐसे अद्भुत रूपको देख कर समस्त त्रैलोक्य भयभीत हमको दिखाता है ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंति॥स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

दोहा-देव गणहिं सब शरण हैं, दोउ कर जोरे भीत ॥
सिद्धादिक ऋषि स्वस्ति कहि, अस्तुति कर तव मीत२१

टीका-हे भगवन्! देवतागण आपकी शरण आये हुये हाथ जोड़ स्तुति करते हैं और सिद्धादिक ऋषि लोग स्वस्ति शब्द कहते हुये अनेक स्तोत्रों करके आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्यावसवो ये च साध्याविश्वेऽश्विनौमरुतश्चोष्मपाश्च ॥ गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्तेविस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

दोहा—सिद्धादिक गण सकल सब, विस्मित होत अपार ॥
नारायण तव तन अमल, निरखहिं बारम्बार ॥२२॥

टीका—रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेवा, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धादिकोंके समूह सबही विस्मित होकर आपको देखते हैं ॥२२॥

रूपंमहत्तेबहुवक्त्रनेत्रंमहाबाहोबहुबाहूरुपादम्॥ बहूदरंबहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिता स्तथाऽहम् ॥२३॥

दोहा—बहु मुख चख बाहूरुपद, उदर देखि बिकराल ।
दिव्यरूप लखि जिमि महद, ब्याकुल हम यहि काल२३

टीका—हे महाबाहो ! अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक भुजायें अनेक जंघा, अनेक पाँव, अनेक उदर, अनेक डाढ़ोंसे युक्त इस आप के रूपको देखकर यह सब लोग और मैं भी अत्यन्त डराहुआ हूँ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्याप्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ॥ दृष्ट्वाहि त्वा प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विन्दामिशमं च विष्णो ॥२४॥

दोहा—आकाशहिं ब्यापक मुखहि, चित्रित नेत्र विशाल ॥
ब्यथित चित्त मैं देखहूँ, लहौं न धीरज काल ॥२४॥

टीका—आकाश तक व्याप्त देदीप्यमान आपके मुखको और रंगबिरंगे विशाल नेत्रों को मैं देख कर मेरा मन अत्यन्त व्यथित होने से मुझे धीरज नहीं आता है ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानल सन्निभानि ॥ दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

दोहा-प्रलय अग्निसम डाढ़ मुख, दारुण तव लखि ईश ॥
दिशाभूल नहिं लहौं सुख, होउ प्रसन्न सुरेश ॥ २५ ॥

टीका-हे जगन्निवास! प्रलय समय की अग्नि तुल्य लम्बी २ डाढ़ों से युक्त आपके हजारों मुख देखकर न तो मैं दिशाओं को जानता हूँ और न सुख को पाता हूँ इस लिये हे देवेश ! मुझ पर प्रसन्न होवो ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ॥ भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥ वक्त्राणि तेत्वरमाणाविशंतिदंष्ट्राकरालानिभयानकानि॥ केचिद्विलग्नादशनांतरेषुसंदृश्यतेचूर्णितैरुत्तमांगैः॥२७॥

दोहा-राजन सह धृतराष्ट्र सुत, सबै द्रोण राधेय ॥
मो सेना के भटनयुत, बीरवर्य गांगेय ॥ २६ ॥
बड़ डाढ़न दारुण मुखन, सपदि पैठि तब जाँय ॥
चपिचूर्णित भीतर दशन, उत्तम अंग लखाँय ॥ २७ ॥

टीका-हे भगवन् ! यह सब राजाओं के साथही धृतराष्ट्र के दुर्योधनादिक पुत्र और हमारी सेनाओंके मुख्य २ वीरोंके साथ भीष्म, द्रोण, कर्ण यह सभी बड़ी २ डाढ़ोंसे युक्त विकराल आपके मुखमें शीघ्रता सहित प्रवेश कर रहे हैं और उनमें से कितने एक आपका डाढ़ोंके बीचमें शिरके चकनाचूर होजानेके कारणसे अटके हुए देख पड़ते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ॥ तथातवामी नरलोकवीरा विशंति वक्त्राण्यभिविज्वलंति ॥ २८ ॥

दोहा-बड़वानल सन्मुखहिं जिमि, सारतन बहुजल वेग ॥
यह नृलोक के वीर तिमि, तव मुख पैठैं वेग ॥ २८ ॥

टीका- हे भगवन् ! जैसे नदियोंका जल समुद्र में अत्यन्त वेग से जाकर मिलता है वैसेही यह नरलोक के वीर आपके प्रज्वलित मुखोंमें चारों ओर से प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥

यथाप्रदीप्तंज्वलनंपतंगाविशंतिनाशायसमृद्ध वेगाः तथैव नाशाय विशंति लोकास्तवापि वक्त्राणिसमृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

दो०-नाशवान दीपकहिं जिमि, पैठ पतंग सवेग ॥
वैसेही तव मुखन तिमि, प्रविशत लोग सवेग ॥ २९ ॥

टीका-जैसे मरने के लिये पतङ्ग कीड़ा जलती हुई अग्नि में या दीपक में प्रवेश करते हैं वैसेही यह समस्त वीर अत्यन्त वेग से निज नाश के लिये आपके मुखों में प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसेग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः॥ तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्रा प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥

दोहा-सब जन दीपति मुखन करि, ग्रसि चाटत चहुँओर ॥
तव छबि तेजन जगत भरि, सब तापति बहुओर॥३०॥

टीका-हे विष्णो ! श्रीकृष्ण आप उन वीरों को प्रवेश करते हुये निवारण तो करते नहीं हो बल्कि समस्त वीरों को मुखों से ग्रास कर रहे हो और अपने तेज से जगत को व्याप्त करके संतापित कर रहे हो ॥ ३० ॥

आख्याहिमेकोभवानुग्ररूपोनमोऽस्तुतेदेववरप्रसीद ॥ विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं नाहिप्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

दोहा—सुर वर तोहिं न तोषहूँ, कहु मोहिं कौन भवान ॥
आज तुम्हें जानन चहूँ, नहिं तव चेष्टा जान ॥ ३१ ॥

टीका—हे देववर ! मैं आपको अनेकशः नमस्कार करके पूँछता हूँ कि आप इस भयावने रूप युक्त कौन हो ? कारण कि आपकी चेष्टाओं को मैं नहीं जानता हूँ इसलिये इसके जानने के अर्थ मेरा यह नमस्कार है आप अपने इस रूपको तजकर मेरे प्रश्न का उत्तर कहिये ॥ ३१ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कालोऽस्मिलोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः॥ ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वेयेऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

दोहा—काल कराल अहैं हम, सब लोक विनासन काज ॥
तुम जो मरिहौ न इन्हैं, तउ ये मरिहैं राज ॥३२॥

टीका—यह अर्जुन की प्रार्थना को सुनकर भगवान ने कहा कि–हे अर्जुन ! मैं पृथ्वी के भाररूप इन राजाओं को तथा अन्य भार रूपों को नाश करने के लिये अति उग्ररूपी मैं काल हूँ और इनके संहार के लिये प्रवृत्त हूँ इस कारण यह जो इस संग्राम में बड़े २ शूरवीर एकत्र हैं इनको यदि तुम न मारोगे तो भी यह मृत्यु को प्राप्त होवेंगे ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्य समृद्धम् ॥ मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

दोहा—ताते उठि यश लहो तुम, भोग जीति रिपुराज ॥
पारथ हते इन्हैं हव, निमित्त मात्र हो आज ॥३३॥

टीका—इससे तुम इस कायरता को छोड़ कर युद्ध करने के

लिये उठो और इन्हें संग्राम में मारकर यश को प्राप्त होवो और अनेक समृद्धि युक्त राज्य के भोग को भोगो। हे सव्यसाचिन्! अर्जुन तुम्हारे युद्ध करने के पहिले ही हमने इन तुम्हारे शत्रुओं का तेज बल पराक्रम आदि हर लिया है इसलिये तुम केवल निमित्तमात्र हो जावो ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं यथान्यानपि योधवीरान् ॥ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

दोहा—भीषम द्रोण जयद्रथहिं, कर्ण आदि जे और ॥
भय तजि अर्जुन युद्ध करि अरिन मारु यहि ठौर ॥

टीका—द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण आदि और भी शूर बीरों को "जो मेरे मारे हुये हैं" उनको तुम मारो ऐसे संग्राम के मध्य दुःखी मत होवो इस युद्ध में तुम अवश्य जीतोगे इससे इस व्याकुलता को छोड़ युद्ध करो ॥

॥ संजय उवाच ॥

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ॥ नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

दोहा—वचन सुनत श्री कृष्ण के, काँपी अर्जुन देह ॥
तब प्रभु को परणाम करि, बोल्यो वचन सुनेह ॥३५॥

टीका-सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि-हे राजन्! श्री कृष्णचन्द्र के वचन को सुनकर अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुये भयभीत गद्गद कण्ठ युक्त श्रीकृष्ण प्रति बोले ॥३५॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनु

हृष्यंते च ॥ रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

दोहा—अनुरागै तोषै जगत, तव कीरति को गाय ।
असुर भीत दिशि २ भगत, नम सब सिद्ध निकाय ॥

टीका—अर्जुन ने कहा कि—हे हृषीकेश ! आपकी उत्तम कीर्ति को सुनकर जगत आनन्दित होता है और आपसे प्रीति करता है, राक्षस लोग भयभीत होकर सब दिशाओं में भागते हैं सब सिद्धगण आपको नमस्कार करते हैं यह सब आपके लिये योग्य ही है ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्गरीयसेब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ॥ अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

दोहा-क्यों न नवो तुमको जुहों, ब्रह्मा के करतार ॥
जगत ईश अक्षर अनंत, तुम सबते हो पार ॥३७॥

टीका—हे महात्मन् ! ब्रह्मा से भी बड़े आदि कर्त्ता जो आप तिनके अर्थ वह लोग क्यों न नमस्कार करैं हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो अक्षर याने जीव तत्व सत् जो कार्य स्थूल प्रकृति, असत जो सूक्ष्म प्रकृति कारण तत्पर जो शुद्ध आत्मा सो सब आपही हो यानी सबके अन्तर्यामी हो ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥ वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूपम् ॥३८॥

दोहा-पुरुष पुरातन आदि हौ, तुमहीं जगत निधान ॥
तुम यह सब जग विस्तरयो, जानत तुमहीं ज्ञान ॥३८॥

टीका-आप आदिदेव पुराणपुरुष हो और तुमही इस विश्व के परम आधार हो, इसके जानने वाले और जानने योग्य और इसके सर्वोत्तम वासस्थान आपही हो हे अनन्त! यह विश्व आपही करके व्याप्त है ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकःप्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥ नमोनमस्तेऽस्तुसहस्रकृत्वःपुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ॥३९॥

दोहा-वायु वरुण शशि अग्नि यम, विधि प्रपितामह आहु ॥
वार हजारन तुमहिं नम, फिरि २नमन कराहु ॥३९॥

टीका-पवन, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी उत्पन्न करने वाले प्रपितामह नारायण विष्णुजी आपही हो इसलिये बारम्बार अनेकशः हजारों बार आपको नमस्कार करता हूँ ॥३९॥

नमःपुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व ॥ अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषिततोऽसि सर्वः ॥४०॥

दोहा-आगेते तोको नवत, पाछेहू जो अनन्त ।
सब व्याप्यो बल बीर्य बहु, अमित प्रबल भगवन्त ४०

टीका-हे सर्वात्मन्! मैं आपको आगे और पीछे से नमस्कार करता हूँ और आपके अर्थ सब दिशाओं की ओर से भी प्रणाम करता हूँ कारण कि-हे परमेश्वर! अनन्तशक्ति और अपरिमित पराक्रमवाले आप समस्त जगत् को व्याप्त कर रहे हो इस लिये आप सर्वस्वरूप हो ॥४०॥

सखेति मत्वाप्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ॥ अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमा

दात्प्रणयेनवापि॥४१॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतो ऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु॥एकोऽथवाप्यच्यु त तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

दोहा–कृष्ण मित्र यादव हठहिं, कह्यों सुहृद मैं मानि॥
की प्रमाद की नेह महिं, तव महिमा नहिं जानि॥४१॥
भोजन शयन विहारमें, किये अनादर भाय॥
तिन्है क्षमा सब कीजिये, प्रभुजू केशवराय ॥ ४२ ॥

टीका—हे अच्युत! आपकी महिमा और आपके विश्वरूप को न जानने वाला मैं प्रमाद वश या प्रणय से या सखाही मान कर–हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! ऐसे कुत्सित शब्द मैंने जो आपके लिये क्रीड़ा, शयन, आसन, भोजन, एकान्त में, सखाओं के सन्मुख जो कुछ अपमान या मान युक्त वचन किया हो या कहे होवैं उनको हे नारायण! मैं आपसे क्षमा कराता हूँ ४१।४२

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ॥ न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥ तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामह मीशमीड्यम्॥पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युःप्रियः प्रियायाऽर्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

दोहा–तुमहिं चराचर जगत कर, पिता पूज्य गुरु जान॥
नहिं तुम सम परभावभर,अधिक त्रिलोकी आन॥४३॥
तुम कहँ शीश नवाय कर, तोषहुँ क्षम अपराध॥
मित्र मित्र प्रिय प्रियाकर, जिमि पितु सुतके साध॥

टीका-हे भगवन् ! आप इस स्थावर, जंगम, जगत् के पिता, पूज्य, गुरु और सबसे श्रेष्ठ हो आपके बराबर कोई नहीं है तो अधिक कहाँ से होवेगा ? इसलिये आपकी उपमा देने का मैं असमर्थ हूँ । ऐसे आप जगत् के स्वामी सबके स्तुतिपात्र आप को नमस्कार करके निज कृत अपराधों की क्षमा माँगता हूँ जैसे:- पिता पुत्रका, मित्र मित्रका, पति पत्नीका अपराध सहन करते हैं वैसेही आपभी मेरे अपराधों को क्षमा करनेके योग्य हो ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं-मनो मे ॥ तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

दोहा-रूप देखि यह आपको, हर्ष भयो अति मोर ॥
पहिलो रूप देखाइये, कहत हाथ हौं जोर ॥ ४५ ॥

टीका-हे देवेश ! इस अद्भुत रूपको देखकर मैं अत्यन्त चकित हुआ हूँ और भयसे मेरा मन व्याकुल हो रहा है इस कारण-हे जगन्निवास ! आप अपने प्रथमरूप को अब देखाइये ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव॥ तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्र-बाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

दोहा-गदा चक्र अरु मुकुट धर, देखन चहौं अनूप ॥
सहस बाहु जगमूर्ति वर, सोइ चतुर्भुज रूप ॥ ४६ ॥

टीका-हे सहस्रबाहो ! मैं आपके उसी पूर्व रूपको जो शंख, चक्र, गदा, पद्म से युक्त चतुर्भुज रूप किरीट कुण्डलों को धारण किये था उसी रूपको-हे विश्वमूर्ते ! कृपया दिखाइये ॥ ४६ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयो

गात्॥ तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

दोहा—अमित आद्य तेज युत, आन न लख जो रूप॥
आत्मयोगसे तुष्ट ह्वै, तोहिं देखायों रूप॥ ४७॥

टीका—इसभाँति अर्जुन की प्रार्थना को सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान ने कहा कि-हे अर्जुन! हम तुम पर प्रसन्न होकर निज सामर्थ्य से यह तेजोमय विश्वरूप तुम को दिखाया है कि जिस रूपको आजतक किसीने नहीं देखा है॥ ४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः॥ एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

दोहा—वेद यज्ञ अरु तप क्रिया, और अनेकन दान॥
ऐसे मेरे रूपको, तो बिन लखै न आन॥४८॥

टीका—हे कुरुप्रवीर! इस मनुष्य लोकमें यज्ञ, वेदाध्ययन, दानादि, अनेक क्रिया, तपादि करके भी इस मेरे रूपको देखने के लिये तुमको छोड़कर और कोई भी सामर्थ्यवान् नहीं हुआ है॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्॥ व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

दोहा—मोह व्यथा हिय जनि धरो, देखि रूप मम घोर॥
मन प्रसन्न भय तजि निरखु, प्रथम रूप जो मोर॥४९॥

टीका—इस भाँति के घोर रूपको देखकर यदि भय भीत हुये और मनसे दुःखी होते हो तो तुम अब डरको छोड़कर मेरे पूर्व रूपको देखो॥ ४९॥

॥ संजय उवाच ॥

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः॥ आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५० ॥

दोहा—अस अर्जुन प्रति बहुरि कह, वासुदेव सुनु भूप॥
रूप चतुर्भुज प्रकट किय, भय हरि विषद अनूप॥

टीका—सञ्जयने धृतराष्ट्र से कहा कि-हे राजन्! श्रीभगवानने भयभीत अर्जुन प्रति इस भाँति कहकर अपने प्रथम रूप को दिखाय आश्वासन किया॥ ५० ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन॥
इदानीमस्मि संवृतः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

दोहा—मनुज रूप तव देखिकर, हिय मम मोद विशेखि॥
प्रकृति लही मैं आपनी, भयो सचेत विशेखि॥५१॥

टीका—अर्जुन ने कहा कि-हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मानुष रूपको देखकर मैं अब सचेत हुआ और मैं अब सावधान हूँ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच॥

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम॥
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥५२।

दोहा—देखि सकै नहिं कोउ अपर, विश्वरूप मम रूप॥
देखन चाहैं देव वर, जो तुम दीख अनूप॥५२॥

टीका—श्रीभगवानने अर्जुन प्रति कहा कि—हे पार्थ! जो यह मेरा विश्वरूप तुमने देखा है इसके देखने को बड़े २ देवता भी इच्छा करते हैं परन्तु आज तक इस रूपके दर्शन किसीको नहीं हुये ५२।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ॥
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। ५३।

दोहा-दान यज्ञ तप बहु किये, देखि सकत नहिं कोय ॥
बिनश्रम पारथ जो अबै, तुम देख्यो है सोय ॥५३॥

टीका-हे अर्जुन ! इस मेरे रूपको जो तुमने देखा है इसको देखने के लिये वेदाऽध्ययन, तप, दान, यज्ञादि करके भी कोई समर्थ नहीं हो सकता है ॥५३॥

भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

दोहा-भक्ति अनन्य जो कोउ करै, सो देखै सतिभाय ॥
नीके जानै मोंहि को, मोमें रहै समाय ॥५४॥

टीका-हे परन्तप ! हमारा यह विश्वरूप देखने के लिये केवल यही उपाय है कि मेरे में चित्त लगा कर भक्ति भावयुक्त मेरीही उपासना करै और दूसरा कोई उपाय ही नहीं है ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाडव ॥५५॥

इति श्रीमद्भग० विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ११

दोहा-मोर भक्त सत्कर्म कृत, जो विन संग रहाय ॥
सब प्राणिन निर्वैरयुत, सो मों माहिं समान ॥५५॥

टीका-हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरी प्राप्ति के लिये समस्त कर्म करता है और परमेश्वरही परम पुरुषार्थ रूप है ऐसा जो मानता है और समस्त पुरुषों का संग छोड़कर निर्वैर रहता है ऐसे मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं ॥५५॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे विश्वरूप दर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

अथ द्वादशोऽध्यायप्रारम्भः ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ॥
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

दोहा–कर्म करहि तुम हित सुजन, सगुण तुमहिं भज एक ।
कहिये इनमें कौन बड़, एक सगुण गहिटेक ॥१॥

टीका–अर्जुन ने श्रीकृष्ण प्रति पूछा कि हे-भगवन्! जो भक्त समस्त कर्मों को आपमें ही अर्पण करके आप सर्वज्ञ, विश्वरूप सर्व शक्तिमान के सगुणरूप की उपासना करते हैं और कोई २ अक्षराख्य निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं इन दोनों उपासकों में कौन श्रेष्ठ है ? सो मुझ प्रति आप कहिये ॥१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

दोहा-जो मोमे मन राखिकै सेवत सेवक भाय ॥
बहु श्रद्धासे जो भजतु, सो सब ते अधिकाय ॥२॥

टीका–उपरोक्त प्रश्न अर्जुन का सुनकर श्री कृष्णचन्द्र भगवान बोले कि-हे अर्जुन! जो सदैव भक्तियोग युक्त होकर मेरे में मन लगाय परम श्रद्धासे युक्त मुझको भजते हैं वह समस्त योगियों में श्रेष्ठ हैं ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

सन्नियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः॥
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥५॥

दो०—अक्षर अकह अरूप मोहिं जो सेवहिं गुण हीन।
आश्रय अचल अचिन्त्य धव, सब व्यापक अतिझीन ३॥
सम मति सब ठौरन अहैं, गहि इन्द्रियन निकाय।
सब जन हितरतते लहौं, मोहीं कहँ सब भाय॥ ४॥

सो०—तिन्हैं कलेश अपार, जासु चित्त निर्गुण लग्या।
निर्गुण स्थिति असि धार, जाबस देहवन्त दुखसह्यो॥५॥

टीका—जो भक्त सब इन्द्रियनको संयम न करके सर्वत्र बुद्धि होकर प्राणीमात्र के हितकी इच्छा करते हुये अनिर्देश्य रूपादि हीन, सर्व व्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ. अचल, नित्य अक्षराख्यब्रह्म की उपासना करते हैं वही भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं। यह दोनों सगुण निर्गुण उपासक भक्तों में निर्गुण उपासक भक्त को क्लेश अधिक है कारण कि वह दुःख साध्य है॥३॥४॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः॥
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात्॥
भवामि न चिरात्पार्थमय्यावेशितचेतसाम्॥७॥

दो०—जे सब कर्मनि करत हैं, अर्पत मोको जान॥
ध्यावत केवल भक्तिसे, बहु उपासना ठानि॥ ६॥
मृत्यु रूप भवसिंद्धते, तासु करै उद्धार॥

मन जिनके मोहि महँ रमै, बेगि सुनहु मतिसार ॥७॥

टीका–हे पार्थ ! जो कोई समस्त कामोंको मेरे में अर्पण करके मेरे शरण में आकर भक्ति योग युक्त मुझको ध्यावते और पूजते हैं उन आये हुये शरणागत भक्तों को मैं थोड़ेही समय में दुःख रूप संसार से उद्धार करने वाला होऊँगा ॥ ६ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ॥
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

दो०–यहिसे अर्जुन बुद्धि मन, मोहीं में तू राखि ।
तन छूटे संशय नहीं, वसिहौ तू अभिलाखि ॥८॥

टीका–इस कारण हे अर्जुन ! तुम मेरेही में मन और बुद्धि को लगावो कारण कि उक्त रीतिसे रहने पर तुम अन्त समय मेरे ही समीप निस्सन्देह रहोगे ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ॥
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

दो०–मोहिमें स्थिर तुम पाण्डुसुत, जो न सकहु मन धारि ।
तो मिलने की यतन करु, गहु अभ्यास विचारि ॥९॥

टीका–हे धनञ्जय ! यदि आप मेरे में मन लगाने को असमर्थ होवो तो स्मर्णरूप अभ्यासयोग द्वारा हमारे पाने के लिये पुनः यत्न करो ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ॥
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

दोहा-जो न शक्ति अभ्यासहू, करहु कर्म मो लाय ।
मोहित कर्म न करतहू, तुमहिं सिद्धि मिलिजाय ॥१०॥

टीका–यदि उपरोक्त विधि से अभ्यास योगके करने में भी

असमर्थ हो तो मेरेही अर्थ कर्म करने में तत्पर होवो कारण कि मेरेही हित कर्म करने से तुम मोक्ष को पावोगे ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

दो०-जो न पार्थ करि सकहु यह, गहु मम शरण सचाव ॥
फल आशा तज देहु तुम, कर्म करहु धरि भाव ॥ ११ ॥

टीका-कदाचित् इसके भी करने को तुम असमर्थ होवो तो मन को रोक कर किये हुये कर्मों को मेरे समर्पण करके सब कर्मों के फलों को त्याग कर देवो ॥ ११ ॥

श्रेयोहिज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानंविशिष्यते॥
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम्

दो०-अभ्यासहु से ज्ञान सब, ज्ञानहु से बड़ ध्यान ॥
तासु कर्म फल त्याग बड़, ताते शान्तिहि मान ॥ १२ ॥

टीका-जिससे कि अभ्यास से कल्याण कारक ज्ञान होता है, ज्ञान से बिचार होता है, विचार से कर्म फल त्याग होता है, कर्म फल के त्याग से शान्ति (संसार से वैराग्य) होती है ॥ १२ ॥

अद्वेष्टासर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ॥
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

दो०-सब प्राणिन नहिं द्वेष करि, सब कर सुहृत दयालु ॥
अहंकार ममता न करु, सम सुख दुखहिं क्षमालु ॥ १३ ॥
सदा रहै सन्तोष करि, मन राखै निज हाथ ॥

प्राण बुद्धि मोमें धरै, वह प्रिय भक्त मम साथ ॥१४॥

टीका-हे अर्जुन ! समस्त प्राणी मात्र के मध्य बैर रहित मित्रभाव रखने वाले. दोनों पर परम दयालु, अहंकार और ममता से रहित, सुख दुःख में हर्ष विषाद रहित, अपराधी जनों में क्षमाशील, सदैव सन्तुष्ट, जितेन्द्रिय, दृढ़ विश्वास को धारण किये मेरेही में मन बुद्धि को अर्पण करके जो मुझे भजते हैं वह भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

दो० हर्ष विषाद न क्षोभ ज्यहि, मम प्रिय जन है सोय ॥
उदासीन गतधीर शुचि, निस्पृह आलसहोय ॥ १५ ॥

टीका-जिन पुरुषों से किसी को भय और शंका नहीं होती है वैसेही आपभी किसीसे भय शंका नहीं रखते, हर्ष, विषाद, क्रोध, भय से जो मुक्त होते हैं वही भक्त मुझको प्रिय हैं ॥१५॥

अनपेक्षःशुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ॥
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः १६॥

दो०-उदासीन गत ब्यथा जोइ, शुचि अनपेक्षरुदक्ष ॥
सब आरम्भ त्यागी सोई, मोकहँ प्रिय प्रत्यक्ष ॥ १६ ॥

टीका-जो हमारा भक्त सब वस्तुओं से इच्छा रहित, अन्तर्बाह्य शुद्ध, भगवद्भजन में कुशल, सर्व कर्मों में उदासीन जिसके अन्तःकरणमें कभी दुःख सम्बन्ध नहीं है और द्रष्टाद्रष्ट फलवाले सर्व उद्योगों को न करने वाला ऐसा जो हमारा भक्त है सो मुझ को अत्यन्त प्रिय है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ॥
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः १७

दो०-नहिं वांछहि शोचहि नहिन, जिनके हर्ष न द्वेष।
तजै भक्त सो मोर प्रिय, पाप पुण्य करि रेष ॥ १७ ॥

टीका-जो पुरुष प्रिय वस्तु के प्राप्त होने से न प्रसन्न होता है वैसेही अप्रिय वस्तु के प्राप्त होनें में किसी से वैर भी नहीं करता, प्रिय वस्तु के प्राप्त होने में शोक नहीं करता वैसेही अप्राप्त वस्तु की इच्छा भी नहीं करता और शुभाशुभ कर्म का त्याग करता है ऐसा जो हमारा भक्त है सो हमको अत्यन्त प्रिय है १७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥
शीतोष्णसुख दुःखेषु समः संगविवर्जितः॥१८॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ॥
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१९॥

दो०-जिनके मानापमान सम, वैरी मित्र समान।
समनहिं कहँ आसक्त सो, द्वन्द समस्त विलान॥१८॥
यथा लाभ संतुष्ट चित, निन्दा स्तुति लीन ॥
थिर मति जे प्रिय भक्त मम, नियम बचन गृहलीन॥१९॥

टीका-जो पुरुष शत्रु मित्र मान अपमान, शीत उष्ण, सुख दुःख इन द्वन्द के विषे समान वृत्ति इनसे इतर और एकही स्थान में सदैव वास न करनेवाला, जो कुछ लाभ हो जावै उसीमें सन्तुष्ट व्यवस्थित चित्त ऐसा जो मेरा भक्त है सो हमको अत्यन्त प्रिय है॥ १८ ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ॥
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

इति श्रीमद्भगवत० भक्ति योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

दो०-जे सेवहि यह भणित मम, धर्म अमिय रस सार।
मम अति प्रिय सो भक्त जन, श्रद्धावन्त उदार॥२०॥

टीका-हे अर्जुन ! इस भाँति मुझ करके कहे हुये मोक्ष साधनरूप धर्मामृत का श्रद्धा युक्त जो पुरुष सेवन करते हैं वही भक्त हमको अत्यन्त प्रिय हैं ॥ २० ॥

इति श्री मद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुन संवादे पं० महाराजदीन दीक्षित कृत भाषा दोहा व्याख्या संकलिते भक्ति योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

॥ अथ त्रयोदशोऽध्यायः प्रारम्भः ॥

* श्रीभगवानुवाच *

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

दो०-जगत सस्य उपजै जहाँ, यह शरीर है खेत ।
कृषिकर सो क्षेत्रज्ञ जिय, हम हमार जिन चेत ॥ १ ॥

टीका-हे अर्जुन ! समस्त विषयोपभोग का साधनभूत जो यह शरीर है उसको क्षेत्र कहते हैं और इस क्षेत्र को जानता है उस आत्म स्वरूप के वेत्ताको लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

दो०-सब क्षेतन क्षेत्रज्ञ जो, अर्जुन सो मोहि जान ।
ज्ञान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को, जो सोई हमको मान ॥ २ ॥

टीका-समस्त क्षेत्रों (शरीरों) में रहने वाला जो क्षेत्रज्ञ (जीव) हमी हैं, हे भारत ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर्गत जो "तत्वमसि" यह विचार है सोई ज्ञान है उसीसे मोक्ष साधन होता है इसीसे हम मान्य हैं ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ॥
सच यो यत्प्रभावश्चतत्समासेन मे शृणु ॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ॥
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

दो–क्षेत्रसु जो जस जहाँ से, जनि प्रभाव का तासु ।
सो अर्जुन विस्तार से, मोसे सुनिये आसु ॥ ३ ॥
ऋषिन श्रुतिन करि बहु तरह, भिन्न भिन्न सो गीत ।
गीत सुनिश्चित हेतु सह, ब्रह्म सूत्रन मीत ॥ ४ ॥

टीका–हे अर्जुन ! हमने जो तुमसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहे हैं उनका जैसा स्वरूप है, जिस धर्म का है तथा जिन २ इन्द्रियादि विकारों से युक्त है और जिसके पास से जैसे उत्पन्न हुआ है जिस भाँति उसमें भेद है यह सब प्रथम के अनेक योग शास्त्र प्रवर्त्तक वशिष्ठादि ऋषि मुनियों ने और वेदों ने शारीरक सूत्र और उपनिषदों द्वारा वर्णन किये हैं सोई मैं आज यहाँ पर संक्षेप रूपसे वर्णन करता हूँ उसे तुम सावधान होकर सुनो ॥ ३ ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रिय गोचराः ॥५॥

दो०–महाभूत अव्यक्त यति, दश इन्द्रिय यक चित्त ।
इन्द्रिय विषयरु अहंकृति, तत्व चौविशो मित्त ॥ ५ ॥

टीका–हे अर्जुन ! यह क्षेत्र अव्यक्त पद वाच्य जानो यह क्षेत्र अहंकार और बुद्धि से अंकुरित हुआ है इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय क्षेत्रके विकार हैं अभिप्राय–पृथ्वी आदि पंच महाभूत उन्हीं का कारण भूत अहंकार, बुद्धि, माया, इन्द्रियाँ और इन्हीं के विषय यह सब क्षेत्रके स्वरूप हैं ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ॥

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

दो०—इच्छा सुख दुख द्वेष धृति, तनु चेतना समेत ।
क्षेत्र कह्यो सविकार अति, संक्षेपहि तव हेत ॥ ६ ॥

टीका—इच्छा द्वेष सुख दुःख शरीर चेतना और धैर्य यह सब मनके धर्म हैं तथापि मन को क्षेत्रान्तर्वर्तित्व है इस कारण से यह सब क्षेत्र के ही धर्म हैं यह इन्द्रियादि विकार सहित क्षेत्र का हमने संक्षेप रूपसे वर्णन किया है ॥ ६ ॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ॥
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ७॥

दो०—क्षमा अहिंसा वक्र नहिं, रहित दम्भगत मान ।
तन संयम शुचि अचलता, सतगुरु सेवन जान ॥ ७ ॥

टीका—श्रेष्ठ जनों में मान को न चाहना संसार में अपने बड़प्पन को न प्रगट करना पर पीड़ारूप हिंसा का त्याग करना सहन शीलता युक्त सबसे सरल स्वभाव रखना, सत् गुरुकी सेवा भीतर बाहर से शुद्ध आत्मज्ञानादि सत मार्ग में स्थिरता शरीर और मन का नियमन करना ॥ ७ ॥

इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ॥
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

दो०—अहंकार पुनि नाँहि तन, सकल विषय वराग ।
जन्म मरण बहुदोषखल, जरा व्याधि दुख लाग ॥८॥

टीका—शब्दादि विषयों में वैराग्य अहंकार को त्याग करना वैसेही गर्भवास और जन्म मरण बुढ़ापा व्याधि आदि की पीड़ा पर सदैव दुःख और दोष दृष्टि करना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ॥
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

दो०—पुत्र स्त्री गृह आदि में, सक्त्यभिमान न मान।
इष्टानिष्टोत्पत्ति में, नितहीं रहत समान ॥ ६ ॥

टीका—पुत्र, स्त्री, गृहादि समस्त वस्तुओं में आशक्ति और अभिमान को त्यागना सुख और दुःख में हर्ष विषाद से रहित रहना ॥ ६ ॥

मयिचानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेश सेवित्वमरतिर्जन संसदि ॥ १० ॥

दो०-करै अनन्य भावहिसे, भक्ति अचल मोंमाहिं।
नर एकान्त स्थल बसै, जन समाज रति नाहिं ॥१०॥

टीका—हम परमेश्वर में सर्वात्म दृष्टि करके दृढ होना, अचल भक्ति भाव युक्त एकान्त में रहना, जन समूह में निवास करने की सदैव अप्रीति ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञान मितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥११॥

दो०— मुक्ति विलोकन नित्य है, निष्ठाऽध्यात्मज्ञान।
ज्ञान यही याते अपर, जो सो है अज्ञान ॥ ११ ॥

टीका—अध्यात्म्य ज्ञान में नित्य अभ्यास मोक्ष विषयक श्रेष्ठता अवलोकन में सदैव रति यह उक्त लक्षण ज्ञान साधनके हैं और इनसे उलटे जो धर्म है वह अज्ञान साधन के हैं ऐसा वसिष्ठादि ऋषियोंने कहा है ॥ १ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

दो०—कहौं सोई जो ज्ञेय है, लहै मोक्ष जेहि जानि।
न सत असत पर ब्रह्म है, ताहि अनादिहि मानि॥१२॥

टीका—हे अर्जुन! यह पूर्वोक्त साधनों से जानने के योग्य

जिसको मोक्ष साधन करनेवाले योगी जानकर मोक्ष को पाते हैं वही मैं कहता हूँ जो ज्ञेय ब्रह्म सो अनादि, हमारा निर्विशेष स्वरूप और किसीसे भी ज्ञान साधन का जो विषय न होने से कार्य कारणरूप से रहित है॥ १२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

सो०-चहुँदिशि कर पद जासु, चहुँदिशि शीश बदन नयन।
चहुँदिशि श्रवण बिलास, रहै ब्यापि जो सबनिमें॥१३॥

टीका-जिसके चारों ओर हाथ, पाँव, नेत्र, शिर, मुख और कर्ण आदि अवयव अंग हैं जो चौदहों लोक में भीतर बाहर से व्याप रहा है॥ १३॥

सर्वेन्द्रिय गुणा भासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्॥
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१४॥

सो०-सब इन्द्रिय गुणकाज, करै रहित सब इन्द्रियन।
संग बिना सब साज, पालै नहिं गुणपाल गुण॥ १४॥

टीका-वह नेत्रादि समस्त इन्द्रियोंके जो रूपादि गुण उनका प्रकाशक होकर भी इन्द्रियों से और उनके किये हुये कर्मों से रहित है और संग वर्जित होकर निर्गुण होकर गुणों का और उनके कार्यों का भोक्ता भी है॥ १४॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च॥
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत्॥१५॥

दो०-भूत चराचर बाहिरहि, अरु है भीतर माहिं।
ज्ञेय नहीं सूक्ष्म तत्वसों, दूरहु पासहु आहिं॥१५॥

टीका-हे अर्जुन! उस अव्यक्त को आदि लेकर स्थूल पर्यन्त समस्त भूतों के भीतर और बाहर व्यापक है वही स्थावर जंगम रूप है इसभाँति होने पर भी अत्यन्तही सूक्ष्म "वही यह है"

इतना भी जानने को अशक्य है तथा अज्ञानियों को अत्यन्त दूर और ज्ञानियों को अति समीप है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥
भूत भर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

दोहा–भूतन भाग न ताहिकर, सब भूतन कर सोय ॥
उत्पति पालन नाशकर, सब भूतन कर जोय ॥ १६ ॥

टीका–वैसेही वह भूतों में कारण रूपसे भिन्नता रहित होने परभी उन भूतों में नामरूपादि करके जीवरूप द्वारा अनेकसा रहा हुआ है और वही सृष्टि उत्पन्न करने के समय समस्त भूतों को उत्पन्न करने वाला और पालन करने वाला होने पर भी प्रलय समय उक्त समस्त भूतों को नाश करने वाला है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥
ज्ञानंज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्याधिष्ठितम् ॥१७॥

सो०–कहहिं जाहि तमपार, सब ज्योतिनके ज्योति हरि ॥
सब हिय करहिं बिहार, ज्ञेय ज्ञान सोइ ज्ञान गमि ॥१७॥

टीका–और जो जानने योग्य सूर्यादि ज्योतियों का प्रकाशक है और अज्ञानरूप अन्धकार के पार है अर्थात् अज्ञान से देखाई नहीं पड़ता और वह ज्ञप्तिरूप है और पूर्वोक्त साधनाओं से प्राप्य है इसी कारण ज्ञान द्वारा प्राप्त होने में सुलभ है समस्त प्राणी मात्र के हृदयाकाश में अधिष्ठित है इस करके ज्ञान दृष्टि द्वारा देखने वाले योगियों को भली भाँति प्रकाशक है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

दोहा–ज्ञेय कह्यों संक्षेप करि, कह्यों क्षेत्र पुनि ज्ञान ॥
लहहि जानि यह भाव मम, मम जन परम सयान ॥१८॥

टीका—हे अर्जुन ! मैंने आपसे क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय इनके लक्षण संक्षेपसे कहे जो मेरा भक्त शुद्ध अन्तःकरण द्वारा उक्त पदार्थों को भली भाँति जानता है वह मेरे स्वरूप (ब्रह्मभाव) को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ॥
विकारांश्चगुणांश्चैवविद्धिप्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

सो०-प्रकृति पुरुष तुम जानु दूनौं अहहिं अनादि ए ॥
सब विकार गुण मानु, प्रकृति तनय अतिसै प्रबल ॥१९॥

टीका—हे अर्जुन ! प्रकृति और पुरुष यह दोनोंही अनादि जानो इच्छादि विकार और बुद्ध्यादि गुण यह सब प्रकृति से उत्पन्न जानो ॥ १९ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुःप्रकृतिरुच्यते ॥
पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

दोहा—कारण कार्य कतृत्व महँ, हेतु प्रकृतिही जान ॥
सुख दुखके भोक्तृत्वमहँ, पुरुष हेतु करिमान ॥ २० ॥

टीका—कार्य [शरीर] और कारण इन्द्रिय इनके कर्तृत्व में प्रकृतिको हेतुत्व है और सुख दुःखादि के भोगने में पुरुष का कारणत्व है ॥ २० ॥

पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृति जान्गुणान् ।
कारण गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

दो०—भोग करै सब प्रकृति गुण, पुरुष प्रकृति स्थित पाय ॥
जन्म लहै बहु योनिमहँ, संग दोष सोइ जाय ॥२१॥

टीका—हे अर्जुन ! निश्चय करके यह अधिकारी पुरुष प्रकृति के संग से प्रकृति जन्य सुख दुःखादि गुणों को भोग करता है

और इस आत्मा को सत असत योनियों में जन्म पाने से शुभाशुभ कर्म करने वाली इन्द्रियों का संयोग होता है सोई उसका कारण है ॥ २१ ॥

उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

दो०-पालक भोगी ईशवर, साक्षी सबनि सहाय ॥
पुरुष रहै तन तदपि पर, सब तन रह्यो समाय ॥ २२ ॥

टीका-इस देह में स्थित आत्मा साक्षीरूप है सबको देखने वाला, पालन करनेवाला, भोक्ता और ब्रह्मादिकों का भी स्वामी है इतने पर भी देह इन्द्रियादि के गुणोंसे संबन्ध न होकर इनसे पृथक् रहने वाला यह परमात्मा [अंतर्यामी) है ऐसा वेदों ने कहा है ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

दो०-प्रकृति पुरुष सब गुणन के, जो यह जानहिं भेद।
रहै भाव केहू विधिहिं, सो न लहै भव खेद ॥ २३ ॥

टीका-हे अर्जुन ! जो पुरुष साक्षित्वादि रूप पुरुष को और सुख दुःखादि युक्त प्रकृति को जानता है सो किसी भाँति संसार में रहै तो भी फिर जन्म नहीं पाता है ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानंतः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

दो०-ज्ञान दृष्टि धरि देखहीं, निज तन महँ धरि ध्यान।

अपर सांख्य शुभ योग सो, कर्म योग सो आन ॥२४॥
नहिं जानहिं कोउ आन जन, आन योग मत लेश ।
गहि सेवहिं ते भवतरहिं, केवल गुरु उपदेश ॥ २५ ॥

टीका—हे अर्जुन ! कितनेही मुमुक्षु जन आत्माकार अन्तःकरण वृत्ति युक्त होकर ध्यान द्वारा इसी देहमें स्थित आत्मा को देखते हैं, कितने ही पुरुष सांख्य (प्रकृति और पुरुष इनका निरन्तर वैलक्षण्य) को जान कर अष्टांग योग से आत्मा को देखते हैं, और कितनेही पूर्वोक्त कर्म योग से आत्मा को देखते हैं, कितनेही उक्त तीनों मार्गों के साधन में अज्ञानी होकर आचार्यादिकों और श्रेष्ठ गुरुओं से कहे हुये ज्ञान का आश्रय लेकर संसार सागर से तर जाते हैं ॥२४॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ॥
क्षेत्र क्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

दो०-स्थावर जंगम भाँति बहु, जो कोउ यह जग जाल ॥
प्रकृति पुरष संयोग भव, सो सब जानु नृपाल ॥२६॥

टीका—हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! जितने कोई स्थावर जंगमात्मक प्राणी त्रैलोक्य में उत्पन्न होते हैं वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं ऐसा तुम जानो ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति २७

दो०-सम सब भूत निवास, परमेश्वर चैतन्यघन ॥
सब नाशत नहिं नशत है, जिन देख्यो दीख तिन २७

टीका—परमेश्वर समस्त भूतोंमें सत रूप करके सब में समान रहता है और संपूर्ण भूत नाशको प्राप्त होते हैं इस भाँति जो देखता सोई देखता है और सब निर्चक्षु हैं ॥२७॥

समंपश्यन्हिसर्वत्रसमवस्थितमीश्वरम् ॥
नहिनस्त्यात्मनात्मानं ततो यातिपरांगतिम्२८

दो०—जो सबमें सम तात, निरखहि ईश्वर एक विधि ॥
आपु आपु नहिं घात, सो जन पावै परम पद ॥२८॥

टीका—ब्रह्मादि तृण पर्यन्त समस्त भूतों में एक रूप करके परमात्मा स्थित है ऐसा जो कोई पुरुष देखता है और अपने ही स्वरूपसे सच्चिदानन्द स्वरूप अपनी आत्मा का नाश नहीं करता वही पुरुष मोक्षको पाता है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैवच कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ॥
यः पश्यति यथात्मानमकर्तारंसपश्यति ॥२६॥

दो०—आतम कर्म न करै कोउ, प्रकृति करै सब कर्म ॥
जिन तिन देख्यो धीर नर, अस देख्यो तजि भर्म ॥२६॥

टीका—देहरूप और इन्द्रिय रूप प्रकृति के विकारों करके समस्त कर्म किये जाते हैं यह आत्मा अकर्त्ता है ऐसा जो देखता है सोई देखने वाला दिव्यचक्षु है ॥ २६ ॥

यदा भूत पृथग्भावमेकस्थमनु पश्यति ॥
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

दोहा०-भूतपृथक्त्वहि जो लखत, आत्मा स्थिति लय काल ॥
सृष्टि समय विस्तारत, ब्रह्महिं लहै भुवाल ॥३०॥

टीका— जिस समय मुमुक्षु जन को "अलग अलग देखने वाले भूत और उन भूतों के कार्यों को एकही आत्मा के स्वरूप में स्थित हैं और उसीसे समस्त भूत विस्तार को प्राप्त हुये हैं" ऐसा ज्ञान जब प्राप्त हो जाता है तब वह ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता है ॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मामव्ययः ॥

शरीरस्थोपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

दोहा-परमात्मा अविकार हैं, प्रभु अनादि गुण हीन ॥
कर्म करैं नहिं लहहिं फल, यदपि रहे तन लीन ॥३१॥

टीका--हे कौन्तेय ! यह परमात्मा अनादि निर्गुण और अव्यय होने के कारण वह प्रत्येक शरीर में रहने वाला है तो भी वह कुछ करता नहीं है और किसी कर्म जन्य फल से लिप्त नहीं होता।

यथा सर्व गतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ॥
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

दोहा-रहे लगै नहिं ताहिं सो, जिमि सबमों आकाश ॥
लहहिं न जगके दोष गुण, तिमि हरि सर्व निवाश।३२॥

टीका--जिस भाँति आकाश घटादि में रहकर भी असंगत्व भाव से किसी वस्तु में लिप्त नहीं होता उसी तरह यह आत्मा समस्त प्राणी मात्र के देह में व्यापक होकर भी यह देह कृत पाप पुण्य के फलों से लिप्त नहीं होता है ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ॥
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३३॥

दोहा-सकल जक्त के मध्य जिमि, एक प्रकाशक भानु ॥
सकल प्रकाशहि क्षेत्रगण, तिमि क्षेत्रज्ञहिं जानु ॥३३॥

टीका-हे भारत ! जिस भाँति एक रूप सूर्य होकर सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करते हैं उसी भाँति एक क्षेत्रज्ञ (आत्मा) होने पर भी समस्त क्षेत्रों को प्रकाशित करता है ॥३३॥

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयो रेव मंतरं ज्ञान चक्षुषा ।
भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यांतिते परम्॥३४॥

इती श्रीमद्भगव० प्रकृति पुरुष योगोनाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

दो०—इमि अन्तर इन दुहुन के, ज्ञान नयन जिन जान।
बहुरि उपाय सुमोक्ष के, सो जन ब्रह्म समान ॥२०॥

टीका—हे अर्जुन! इस भाँति जो मुमुक्षु पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अन्तर जानते हैं और भूत प्रकृति द्वारा ज्ञानादि साधनों करके मोक्षका उपाय जानते हैं वही परम ब्रह्मरूप को प्राप्त होते हैं ३४

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्री कृष्णार्जुन संवादे पं० महाराज-
दीन दीक्षित कृत भाषा दोहा व्याख्यायां प्रकृति
पुरुष योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

—(:-*-:)—

॥ अथ चतुर्दशोऽध्याय प्रारम्भः ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

**परंभूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ॥
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धि मितोगताः॥१॥**

दो०—परमारथ पर ज्ञान बड़, सब ज्ञानन महँ ज्ञान।
लहे सकल मुनिहू परम, सिद्धि जाहि को जान ॥१॥

टीका—हे अर्जुन! आपके लिये मैंने बारम्बार ज्ञान साधन रूप ज्ञान वर्णन किया है फिर भी मैं आपके कल्याणार्थ सर्वज्ञान साधनों के मध्य तप कर्मादि साधनों को कहता हूँ कि जिसको पाकर बड़े २ विचार शील ऋषि लोग देह संबन्ध को त्याग करके मोक्ष रूप सिद्धि को प्राप्त हुये हैं ॥ १ ॥

**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्तिच ॥२॥**

दो०—यहि ज्ञानाश्रित होतही, मम साधर्महिं पाय ॥
सृष्टि आदि में जन्मैं नहीं, लयमहँ त्रास न पाय॥२॥

टीका–हे अर्जुन! इस मेरे ज्ञानोपदेश का आश्रय करके जो मुमुक्षु ईश्वरत्वादि समान धर्मको प्राप्त होते हैं वह सृष्टि काल में भी उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलय समयमें भी मरण से दुःखी नहीं होते अभिप्राय कि वह जन्म मरण से छूट जाते हैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्व भूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

दो०–महा प्रकृति मम योनि है, गर्भ चेतना भास ॥
जन्महिं भूत अनेक विधि, ब्रह्मादिक सविलास ॥३॥

टीका–हे भारत! शुद्धचिन्मात्र जो परमेश्वर मैं हूँ इसका गर्भ स्थापन करने का जो स्थान महद्ब्रह्म [प्रकृति] तिसमें सृष्टि के उत्पन्न करने के समय हम अपना जगद्विस्तार का कारण भूत चिदाभासरूप गर्भ स्थापन करते हैं उसी से ब्रह्मादिक समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

दो०–सकल योनि जन्महिं जिते, स्थावर जंगम जाति ॥
तेहि सबकी जननी प्रकृति, जनक हमैं बहु भाँति ॥४॥

टीका–हे अर्जुन! सदैव मनुष्यादि समस्त योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं उन मूर्त्तियों की योनि (माता) महत् ब्रह्म (प्रकृति) हैं और उनका वीर्य स्थापन करने वाला पिता मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः ॥
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

दो०–सत रज तम गुण तीनही, प्रकृतिज कुन्तिज आँहि ॥
अव्यय जीवहि बांधहीं, जिष्णु देह के माँहि ॥५॥

टीका-हे महाबाहो! सत, रज और तम यह तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होकर प्रत्येक देह में तदात्म्य संबन्ध से वास करने वाले निर्विकार चिद्रूप आत्मा को बाँधते हैं अभिप्राय कि यह उक्त गुण सुख दुःखादि से युक्त रहते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ॥
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

दोहा-निर्मल अरु परकाश करि, सतगुण शांति सुभाय॥
ज्ञान संग सुख संग जो, बाँधत जीवहि आय ॥६॥

टीका-हे अनघ! उक्त तीनों गुणों के मध्य सतोगुण निर्मल और प्रकाशमान व निरुपद्रव होने के कारण से देही को सुख और ज्ञान की सङ्गति लगा देता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ॥
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनाम् ॥७॥

दोहा-रज गुण राग स्वरूप है, तृषा संग कर हेत ॥
कर्म संग करि जीवको, ऐसे बन्धन देत ॥७॥

टीका-हे अर्जुन! रजोगुण अप्राप्त वस्तु की इच्छा और प्राप्त वस्तु में आशक्ति उत्पन्न करनेवाला व विषयादि में प्रीति करने वाला है इस कारण वह जीवात्मा का कर्मों में आसक्त करके बन्धन करता है ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ॥
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

दोहा-जायो तम अज्ञान से, मोहै सब तनवन्त ॥
आलस नींद प्रमाद तम, बाँधत सब जग जन्त ॥८॥

टीका-हे अर्जुन! अज्ञान से उत्पन्न तम है वही समस्त

प्राणियों को मोह उत्पन्न कराके प्रमाद आलस्य और निद्रा के द्वारा जीवात्मा को बाँधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ॥

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

दोहा—सत गुण सुख में बढ़त है, कर्म रजो गुण होय ॥
आलस में तम गुण बढ़ै, रहत ज्ञान सब खोय ॥९॥

टीका—सतो गुण देही को सुख प्राप्त करता है, रजोगुण कर्म में लगता है और तमोगुण ज्ञानको घेर कर प्रमादादि से युक्त करता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ॥

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

दो—तिरस्कार तम रज तमहिं, सत्त्व होय अधिकाय ॥
तिरस्कार तम रज सतहिं, रज सत तमको भाय ॥१०॥

टीका हे अर्जुन ! सतोगुण, रज, तमको दबाकर देही को सुखादि से युक्त करता है रजोगुण सत और तम को दबाकर देही को कर्म में युक्त करता है वैसेही तमोगुण, सत, रज, को जीतकर प्राणियों को प्रमादादि में प्रवृत्त करता है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ॥

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

दो०—सब द्वारन तन भवन जब, होत प्रकाश सुज्ञान ॥
तब जानो कुन्ती तनय, सतगुण वृद्धि प्रमान ॥११॥

टीका—हे अर्जुन ! जिस समय देह और सब इन्द्रियोंके द्वारों में शब्दादि विषय रूप सुखादि प्रकाशमान् होते हैं उसी समय सत्वगुण की वृद्धि जानना चाहिये ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ॥
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

दो० लोभ सदा कर्महि निरत, गृह उद्यम रतिमान ॥
घटे तोष इच्छा बढ़ै, रज गुण वृद्धि बखान ॥१२॥

टीका—हे भरतर्षभ ! जिस समय लोग यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति, गृहादि कर्मों का उद्यम, संकल्प विकल्प में अशान्ति और इच्छा होवै तब रजोगुण की उत्पत्ति जानना चाहिये ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ॥
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनंदन ॥ १३ ॥

दो०—मोह प्रमाद प्रवृति अरु, अप्रकाशहू बीर ॥
तम विवृद्धि ये धर्म करु, कुन्ती सुत रणधीर ॥१३॥

टीका—हे कौन्तेय ! जिस समय विवेक का नाश उद्योग में बुद्धि न होना, स्थिर बुद्धि न रहै और मोह ज्यादा हो तो तमोगुण की वृद्धि जानना चाहिये ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ॥
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

दोहा—सत्त्व वृद्धि जब अन्य नहिं, देह धारि को बीर ॥
लोक विवेकिन तब लहत, निर्मल हे रणधीर ॥१४॥

टीका—जिस समय रजोगुण और तमोगुण का नाश होकर सतोगुण प्राणधारी को प्राप्त होवै और वह मृत्यु को प्राप्त हो जावै तो वह प्रकाशमय पवित्र लोक को पाता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ॥
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

दो०—रज विवृद्धि महँ त्यागि तन, लहहिं मनुज तन सोय ॥

लहहिं अधोगति त्यागि तन, तम बढ़ति महँ जोय ॥१५॥

टीका– यदि प्राणी रजोगुण की वृद्धि समय में मृत्यु को प्राप्त होवे तो वह कर्म शूर मनुष्यों में उत्पन्न होता है और तमोगुण की वृद्धि समय में मृत्यु को प्राप्त हुआ प्राणी पशु आदि योनियों में उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

दो०—अर्जुन सात्विक कर्म के, फल प्रकाश सुखजान ॥
राजसफल बहु दुख लखहु, तामस फल अज्ञान ॥१६॥

टीका–हे अर्जुन ! पुण्य कर्म का फल निर्मल और सात्त्विक है, रजोगुण का फल दुःख है और तमोगुण का फल अज्ञान है॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ॥
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

दो०—रज से होवै लोभ बहु, सत से होवै ज्ञान ॥
तम से मोह प्रमाद अरु, होवत हैं अज्ञान ॥ १७ ॥

टीका–सतो गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह, अज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः१८

दोहा—सत्यलोक सात्विक बसहिं, राजस नर पुर वास ॥
तामस जनको वास है, नरक विहीन प्रकास ॥१८॥

टीका–सात्विक गुणवाले पुरुष उत्तम लोक (अर्थात्-मोक्ष) को प्राप्त होते हैं, रजोगुणवाले मनुष्य दुःख भोगते हुए मृत्यु-लोक में रहते हैं और तमोगुण युक्त पुरुष अधम योनि में प्राप्त होकर नरक में जाते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्तिमद्भावं सोऽधिगच्छाति ॥१९॥

दो०–गुणही को करतार करि जानै ज्ञानी कोय ।
मोहिं लखै गुणते परे, मोमें लीन सो होय ॥१९॥

टीका–जब ज्ञानवान विचार शील पुरुष सत्वादि गुणों कोही जानकर साक्षी भूत आत्मा समस्त गुणों से परे हैं ऐसा जो भली भाँति जानता है वही हमारे ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

दो०–जिन त्यागे यह तीन गुण, हरण कलेवर फन्द ॥
जन्म जरा मृत दुख रहित, सोइ लह परमानन्द ॥२०॥

टीका–फिर देहाकार से युक्त रहने वाले तीनों गुणों को उल्लंघन करके वह गुण कृत जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःखों से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ॥
किमाचारः कथंचैतांस्त्रीनगुणानतिवर्तते ॥२१॥

दो०–जिन मारयो है तीन गुण, ताके लक्षण कौन ॥
कैसे ताके आचरण, सो तुम मोसो कहौन ॥ २१ ॥

टीका–हे श्रीकृष्ण ! इन सत्वादि तीनों गुणों को उल्लंघन करके गुणातीत पुरुष किन लक्षणों से युक्त जाना जाता है ? और वह कैसा आचरण करने वाला होता है ! तथा वह इन तीनों गुणों को उल्लंघन करके कैसा वर्तता है ? यह मुझ प्रति कहिये ।

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ॥
न द्वेष्टिसंप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।२२।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ॥
गुणा वर्त्तत इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥२३॥
सम दुःख सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ॥
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः २४
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ॥
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

दो०—मोह प्रकाश प्रवृत्ति कहँ, पायन द्वेषै जोय ॥
भये निवृत्तहु तिन्हनि कहँ, काँक्षाहू नहिं होय ॥२२॥
उदासीन बैठो रहै, सुख दुःख चपल न होय ॥
गुण सब कारज करत हैं, जो जानै जो लोय ॥ २३ ॥
दुख सुख को समकरि गनै, कञ्चन माटी भाय ॥
प्रिय अप्रिय को तुल्य गनि, स्तुति निन्दा इक भाय।२४
मान अपमान समान जेहि, सम जेहि वैरी मीत ।
सब आरम्भ बिलान जेहि, सो जन गुण आतीत॥२५॥

टीका—अर्जुन के प्रश्न को सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा कि—हे अर्जुन ! जो मुमुक्षु पुरुष प्रकाशमान सतोगुण, कर्म प्रवृत्तिवान् रजोगुण, मोहवान् तमोगुण इनके समस्त कार्य प्राप्त होने में वैर नहीं करता और निवृत्ति होने में इच्छा नहीं करता है सोई गुणातीत कहाता है। जो उदासीन की भाँति सुख दुःख को समान मानकर रहता है और गुणों से चलायमान नहीं होता और उनको स्वभाव से वर्तमान जानकर स्थिर होता है सो

गुणातीत कहलाता है। जो पुरुष सुख और दुःखको समान जानता है और स्वस्थ देखता है, प्रिय और अप्रिय को समान जानता है, निन्दा और स्तुति को तुल्य गिनता है, सोई पुरुष गुणातीत कहाता है। मान, अपमान, मित्र, शत्रु इन उभय पक्षों को जो समान जानकर सम्पूर्ण उद्योग का त्याग करता है सोभी गुणातीत कहलाता है ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ॥
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

दो०–जो मोहिं भक्ति अनन्यकै, सेवत अर्जुन बीर।
सो इन गुणन उलंघि कै, मोक्ष लहत है धीर ॥२६॥

टीका–जो पुरुष मुझको एकाग्र भक्ति से सेवन करता है सो इन गुणों से पार होकर मोक्षको प्राप्त होने के योग्य होता है॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च॥२७॥

इति श्रीमद्भगव० गुणत्रय वि० योगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

दो०–अव्यय अमृत ब्रह्मकी, शाश्वत धर्महु केरि ॥
अरु ऐकान्तिक सुखहु की, मूरति जानहु मोरि ॥२७॥

टीका– कारण कि हे अर्जुन! जब ब्रह्म नित्य ऐसा मोक्ष, शाश्वत ऐसा धर्म, और अखण्ड ऐसा सुख इन सब के हमहीं कारण हैं तब मुमुक्षु पुरुष को हमारी भक्ति से ब्रह्मभाव होना योग्यही है ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाँ श्रीकृष्णार्जुन संवादे पं० महाराज-दीन दीक्षित कृत भाषा दोहा व्याख्यायां गुणत्रय विभाग योगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

॥ अथ पञ्चदशोऽध्याय प्रारम्भः ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थंप्राहुरव्ययम् ॥
छंदांसि यस्यपर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

दो०—जड़ ऊपर तर डार है, नाशवन्त नहिं नाश ॥
श्रुति दल जग तरु जान जिन्ह, भा तेहि वेद प्रकाश १

टीका—हे अर्जुन ! इस संसार रूप अश्वत्थ (पीपल) वृक्षका मूल चराचरातीत ऐसा सबसे ऊपर जो ब्रह्म सोई इसका मूल है और जो चराचर जगत् का विस्तार है सोई उसकी शाखा हैं, चारों वेद जिसके पत्ता हैं इस सांसारी वृक्ष को जो भली भाँति जानता है सोई वेदार्थ को भी भलीभाँति जानता है ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्यशाखा गुणप्रवृद्धा विषय प्रवालाः ॥ अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधानि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

दो०—फैलि रही शाखा सकल, अध ऊरध सब ठाय ॥
पल्लव नवल विषय सकल, बढै बारि गुण पाय ॥२॥

टीका—इस सांसारी वृक्ष के ऊपर और नीचे डालियाँ हैं, सत्त्वादि गुण रूपी जलसे यह सेंचन पाय वृद्धिको प्राप्त होता है, रूप, रसादि इसके कोमल २ पत्ते हैं इसकी नीचे और ऊपर जो जड़ें हैं वही स्थूल शरीरों तथा लिंग शरीरों में व्याप्त होकर स्थित हैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ॥ अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

दो०—आदि अन्त नहिं जो नहीं, स्थान रूप नहिं जाहि ॥
दृढ असंग हथियार लै, दुसह मूल तन डाहि ॥३॥

टीका—इस जगत् में संसार रूपी पीपल वृक्ष का ऊपर मूल नीचे शाखादि रूप नहीं देख पड़ते वैसेही अन्त, आदि और स्थिति भी नहीं जान पड़ती इस प्रलय वृक्ष के काटने के लिये केवल असंग रूपी शस्त्र (कुल्हाड़ा) है ॥३॥

ततःपदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तंति भूयः॥ तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

दो०—हरि याको निज मूल है, खोजिय करि सुविचार ॥
जहाँ जाय बहुरै नहिन, कबहि बहुरि मतिसार ॥४॥

टीका—हे अर्जुन! इस सांसारी पीपल वृक्ष की उत्पत्ति परमेश्वर से हुई इसलिये "मैं परमेश्वर की शरण में हूँ" इस बुद्धि द्वारा परमात्मा को ढूँढे उक्त पदमें प्राप्त होने से फिर लौटना नहीं पड़ता ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः॥ द्वंद्वैर्विमुक्ताःसुखदुःखसंज्ञैर्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

दो०—मान नहीं अध्यात्म नित, मोह काम संग नाहिं ॥
सुख दुखादि जिन द्वन्द्वगत, ते अव्यय पदजाहिं ॥५॥

टीका—हे अर्जुन! जो कोई पुरुष अभिमान और मोह से रहित, रागादिक दोषों को जीतने वाले सर्वदा आत्मज्ञान में तत्पर रागादिक से निवृत्त सुख दुःख शीतोष्ण दोनों को समान जानने वाले विवेकी पुरुष हैं वही अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः॥

यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥६॥

दो०—पावक रवि अरु चन्द्रमा, ताहि करै न प्रकास ॥
फिरै न ताको पायकर, सो है मेरो बास ॥ ६ ॥

टीका—हे अर्जुन ! जिस परम पद को सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशमान नहीं कर सक्ते और जिस पद को पायकर योगी जन नहीं लौटते सोई हे पार्थ ! मेरा निज स्थान है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीव लोके जीव भूतःसनातनः॥
मनःषष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।७।
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ॥
गृहीत्वैतानिसंयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥८॥

दो०—यहि जगमें मम अंश यह, जीव पुरातन जानु ॥
मन पञ्चेद्रियन खींचकर, प्रकृति स्थिर कर मानु ॥७॥
जब तनु त्यागै अरु लहै, जीव यह कुन्ती जात ॥
वायु गन्ध आशय गहै, जिमि तिमि इनलै जात ॥८॥

टीका—हे अर्जुन ! उसकाही निर्विशेष अंश इस संसार में जीव भावको प्राप्त हुआ है यह नित्य स्वरूप देह और इन्द्रियादि का स्वामी (जीवात्मा) जिस समय देह से निकल जाता है तब उस शरीर में से मन सहित छहो इन्द्रियगणों को और प्राणों को भी प्राप्त होने वाले शरीर में विषय भोग भोगने के लिये खींच लेता है और जब दूसरा नया शरीर पाता है तब उसमें जैसे वायु अपने स्थान रूप पुष्प में से फूल के सूक्ष्म अवयव रूप गन्ध को लेकर दूसरी जगह पर प्रवेश करती है वैसेही वह जीव मन व प्राण सहित इन इन्द्रियों को ग्रहण करके प्रवेश करता है ॥७॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ॥
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

दोहा—श्रोत्र नेत्र नाशा रसन, त्वचा औरहू चित्त ॥
आश्रित ह्वैकै जीव इन, विषयन भोगत मित्त॥६॥

टीका—हे अर्जुन ! यह जीव, कान आँख, त्वचा जीभ नाक, वाणी, हाथ, पाँव, गुदा, शिश्न, मन बुद्धि, अहंकार इन सबको भोग भोगने के साधन समझ कर उनका आश्रय करके विषयों का सेवन करता है ॥ ६ ॥

उत्क्रामंतं स्थितंवापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ॥
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः॥१०॥

दोहा—तनहिं रहत पर तन गहत, भोग करत गुणवापु ॥
जीवहिं लखहि न मूढ़ जन,लखहि आपु महँ आपु१०

टीका—जीवके एक शरीर को त्याग करना और दूसरे का आश्रय करना और विषयों को अनुभव करना तथा इन्द्रियों के साथ रहने के मर्म को मूर्ख लोग नहीं देख सक्ते परन्तु ज्ञानयुक्त विवेकी पुरुष ज्ञान चक्षु द्वारा उसे भली भाँति देखते हैं ॥ १० ॥

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम्॥
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः॥११॥

दोहा—यत्न करहिं योगी सुजन, लखहिं आपु महँ आपु ॥
बिन सद्गुरु यत्नहुँ किये, लखहिं न चित रत पापु११

टीका—योगीजन योगाभ्यास से प्रयत्न करते हुये देहमें स्थित आत्मा को देखते हैं परन्तु अविवेकी ज्ञान से रहित मूर्ख लोग अनेक यत्न करते हुये भी आत्मा को नहीं देख सक्ते हैं ॥११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्॥
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजोविद्धिमामकम्।१२।

दो०—जो है तेज दिनेश में, जगत प्रकाशय जोय ॥
जो हिम भानु कृशानु में, तेज, हमारो होय ॥१२॥

टीका-हे अर्जुन! सूर्य, चन्द्र, अग्नि इनमें जो तेज है कि जिस करके यह जगत को प्रकाशित करते हैं वह तेज हमारा ही जानों॥ १२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाःसोमोभूत्वा रसात्मकः॥

दोहा-धारतु हौं सब जीवको, करि धरनीम प्रवेश॥
पालत हौं सब औषधिन, ह्वै रसमय शशिभेश॥१३॥

टीका-मैं परमेश्वर पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी अपरिमित माया शक्तिके बलसे समस्त भूतोंको धारण करता हूँ और मैंही अमृतरस (जल) रूप चन्द्रमा होकर समस्त औषधियों को पोषण (पुष्ट) करता हूँ॥ १३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः॥
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् १४

दो०-होय जठर अग्नि सबहिं में, अरु सब देहिनमें आय।
प्राण अपान सहाय ह्वै, डारत अन्न पचाय॥ १४॥

टीका-हमहीं जठराग्नि (उदरगत अग्नि) होकर समस्त प्राणियोंकी देह में स्थित होकर प्राण अपान वायुओं से मिलकर भक्ष्य भोज्य, लेह्य चोस्य इन चारों प्रकार के अन्नों को पाचन करता हूँ॥ १४॥

सर्वस्यचाहंहृदिसन्निविष्टोमतःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनंचवेदैश्चसर्वैरहमेववेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम्॥ १५॥

दो०-हम सबके हिय महँ बसैं, मोते ज्ञान विकार॥
वेद सबै मोको कहैं, मैं तिनको करतार॥१५॥

टीका-हे अर्जुन! हमहीं समस्त प्राणीमात्र के हृदय में आत्मस्वरूप होकर के स्मृति ज्ञान और विस्मृति अज्ञान को

कराते हैं तथा चारों वेदों करके जानने योग्य हमी हैं वेदान्त विद्याओं का संप्रदाय प्रवर्तक और ज्ञान दाता गुरु तथा वेदार्थ वेत्ता भी हमी हैं ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

दो०—पुरुष द्वई या लोकमें, क्षर अक्षर तुम जानु ॥
क्षर नश्वर सब देह है, देही अक्षर मानु ॥ १६ ॥

टीका—हे अर्जुन ! संसारमें क्षर संज्ञक और अक्षर संज्ञक यह दो प्रकार के पुरुष हैं तिनमें से नाशवान् ब्रह्मादि से लेकर स्थावरान्त पर्यन्त सभी भूत क्षर पुरुष हैं और जो निर्विकार मायोपाधि रहित देहके नाश होनेपर पर्वत की भाँति अचल है सोई अक्षर कहलाता है ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

दो०—उत्तम पुरुष सु और हैं, परमात्मा के भेस ॥
तीनि लोकसो धरतु हैं, करिके निज परवेस ॥ १७ ॥

टीका—उक्त दोनों भाँति क्षर, अक्षर में से भिन्न पुरुषोत्तम परमात्मा कहलाता है जो तीनों लोकमें व्याप्त होकर अविनाशी ईश्वर रूपसे सबका पालन करता है ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

दो०—क्षर अरु अक्षर ते परे, हौं सबते अधिकोहि ॥
याते पुरुषोत्तम कहहिं सब, लोक वेद महँ मोहिं ॥

टीका- हे अर्जुन ! मैं क्षर पुरुष से अलग और संसार के

बीज स्वरूप अक्षर पुरुष से भी उत्तम हूँ इसीसे समस्त लोक पुराणों में, वेदों में भी पुरुषोत्तम इस नामसे मैं प्रसिद्ध हूँ ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ॥
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१६॥

दोहा—जो इमि जानहिं मोह तजि, पुरुषोत्तम् मोहि बीर ॥
सोइ सर्वज्ञ भजै म्वहिं, सकल भाव मति धीर ॥१६॥

टीका हे अर्जुन! जो पुरुष इस भाँति मोह रहित होकर मुझको पुरुषोत्तम जानता है सोई सर्वज्ञ है और वही अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है ॥ १६ ॥

इतिगुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ॥
एतद्बुध्वाबुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्चभारत२०

इति श्रीमद्भगव० पुरुषोत्तम योगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

दो०—यह अति गोप्य सुज्ञानवर, कह्यो तुमहिं हम पार्थ ॥
यहि जाने होवै सुजन, ज्ञानी विमल कृतार्थ ॥२०॥

टीका—हे निष्पाप! अर्जुन मैंने तुम प्रति परम तत्त्वका बोध करने वाला यह अत्यन्त गुप्त परमोत्तम ज्ञानप्रद शास्त्र कहा है कि जिसको हे भारत! भली भाँति जान कर पुरुष बुद्धिमान (ब्रह्म-ज्ञान-युक्त) और ब्रह्मवेत्ता होजानेसे वह कृतकृत्य निस्सन्देह होजाता है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे पं० महाराजदीन दीक्षित कृत भाषा टीका दोहा व्याख्यायां पुरुषोत्तम योगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः प्रारम्भः ॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ॥
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् १॥
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ॥
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता ॥
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

दोहा-अभय शुद्धचित्त ज्ञान हित, करिवो विविध उपाय ॥
इन्द्री संयम दान मख, पढ़िवो तप रिजु भाय ॥१॥
सत्य अहिंसा क्रोध जग, अपिसुन त्याग अडोल ॥
नहिं लोलुपता जनदया, मृदुता लाज अतोल ॥ २ ॥
तेज क्षमा धृति शौच युत, द्रोह मान अति नाँहि ॥
यह दैवी सम्पति सहित, जे होवै तिन माँहि ॥ ३ ॥

टीका-श्रीकृष्णचन्द्रने कहा कि हे अर्जुन ! चित्तकी प्रसन्ता ज्ञान प्राप्ति में उद्योग, दान, इन्द्रिय निग्रह, वेदाध्ययन, तप निष्कपट व्योहार, अहिंसा, सत्यवादी, क्रोध रहित, रागादि का त्याग, शांति, परनिन्दा न करना, जीवों पर दया रखना, किसी के नाश करने में प्रवृत्त न होना, कोमल स्वभाव रहना, लज्जावान् रहना, स्थिर स्वभाव रखना, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता निर्द्रोह, निराभिमान हे अर्जुन ! जो पुरुष दैवी सम्पत्ति से उत्पन्न हैं उनमें उक्त गुण होते हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ॥
अज्ञानंचाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

दोहा-दम्भ दर्प अभिमान पुनि, क्रोध निठुरता जासु ॥
नहिं विवेक ये बसहि जे, असुर सम्पदा तासु ॥ ४ ॥

टीका- हे अर्जुन ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर भाषण, अज्ञान यह आसुरी सम्पत्ति से उत्पन्न लक्षण उन्हीं पुरुषों में होते हैं कि जो आसुरी लक्षण से उत्पन्न हैं ॥ ४ ॥

दैवीसंपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ॥
माशुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

दोहा-मोक्षहिं दवी सम्पदा, बँधहि आसुरी जान ॥
शोचु जिष्णु नहिं सम्पदा, दैवी लह्यो सुमान ॥ ५ ॥

टीका-हे पाण्डव ! दैवी सम्पद् मुक्ति के लिये है और आसुरी सम्पद् बन्धन का कारण है तुम दैवी सम्पद् से उत्पन्न हुये हो इस लिये शोक न करो ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ॥
दैवोविस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

दोहा-दोइ प्रकार यहि जगत में, जन सुर असुर समान ॥
विस्तर युत सुर जस कह्यो, अब दूजी सुन मतिमान ६

टीका-हे अर्जुन ! इस संसार में दैव (सात्त्विक) और आसुर [तामस] यह दो भाँति के प्राणी मात्र के सर्ग हैं जिसमें विस्तारपूर्वक प्रथम दैव सर्ग मैंने वर्णन किया अब तुम आसुरी सर्ग को सुनो ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ॥
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

दोहा-प्रवृति निवृति जगतकी, आसुर जानत नाँहिं ॥
सत्य शौच आचार शुभ, नहिं ये गुण तिन माँहि ॥७॥

टीका-आसुरी सम्पत्ति से उत्पन्न हुये मनुष्य धर्म में प्रवृत्ति

और अधर्म से निवृत्तिको नहीं जानते और सत्य, शौच, आचार आदि से भी भ्रष्ट होते हैं ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं तज्जगदाहुरनीश्वरम् ॥
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

दो०-वेद पुराण न ईश्वरहिं, जानहिं मागत मूढ़ ॥
मैथुन ते संसार यह, काम क्रोध महँ गूढ़ ॥ ८ ॥

टीका-जो पुरुष आसुरी सम्पत्ति से उत्पन्न हुये हैं वह जगत् को असत्य, निराश्रय और निरीश्वर बताते हैं और इस जगत् की उत्पत्ति केवल स्त्री पुरुष के संयोग सेही है यह जानते हैं ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ॥
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

दो०-यह मत गहि अति मलिन चित, अल्प बुद्धि संचार ॥
कर्म करहि हिंसा बहुत, दुष्ट जगत क्षय कार ॥ ९ ॥

टीका-उक्त अविवेकी अल्प बुद्धि वाले पुरुष हे अर्जुन! नास्तिक दृष्टिसे निषिद्ध कर्मों के द्वारा जगत् के नाशार्थ आसक्त होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ॥
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः १०

दो०-असन्तुष्ट लहि काम शठ, दम्भ मान मद युक्त ॥
मूढ़ करहिं आग्रह असत, गहि व्रत आमिष भुक्त ॥ १० ॥

टीका-वह अतृप्त पुरुष काम का आश्रय करके दम्भ, अभिमान और मद से युक्त होकर अपनी मूर्खता वश निन्दित कर्म का आचरण करते हुये निन्दित मार्ग में प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ॥
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥ ११ ॥

दो०-मरन अन्तलों शठ जरहि, चिन्ता चिता बनाय ॥
जानहिं पुरुषारथ बड़ो, काम भोग अधिकाय ॥११॥

टीका-वह लोग मरण समय तक अत्यन्त चिन्ता से व्याप्त रहते हैं और केवल काम भोगही को परम पुरुषार्थ जान कर उसी पर निश्चय करते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ॥
ईहन्तेकामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

दोहा-आशा फाँसनि सो बँधे, काम क्रोध चित चाह ॥
जोरत धन अन्याय करि, काम भोग निर्वाह ॥१२॥

टीका-ऐसा करनेवाले, असंख्य आशारूप फँसरी से बँधे हुये काम क्रोध के वशीभूत हो निज इच्छानुसार विषय भोगार्थ चौर्यादि अन्याय से द्रव्य संचय को चाहते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

दोहा-आज लहौं हम भोग यह, पुनि लहबे बड़भोग ॥
आजु लहे यह धन बहुरि, लहब विपुल धन भोग ॥१३॥
मारयो मैं यहि शत्रुहिं, मारौं औरन काहिं ॥
ईश सिद्ध भोगी हमहिं, सुखी बली हम आहिं ॥१४॥

टीका-आज मैंने अपनी इच्छानुसार यह धन पाया, कल मैं इस कामना को भी पाऊँगा, वह तो मेरा धन है ही और यह भी धन मुझे मिल जायगा । आज मैंने इस शत्रुको मार लिया और बाकी शत्रुओंको भी हम मार लेवेंगे, हमी विद्या, धन

ऐश्वर्य आदि से समर्थ हैं मेरेही पुत्र-पौत्र धन धाम आदि हैं इस लिये मैं समर्थ कृतकृत्य सुखी भी हूँ ॥ १३ ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः १५

दोहा-मैं कुलीन अकुलीन हौं, और न मोहिं समान ॥
भजिहौं दैहौं हर्षिहौं, इमि मोहित अज्ञान ॥ १५ ॥

टीका-मैं धनाढ्य और कुलीन हूँ मेरे समान और दूसरा कोई भलाही नहीं है, मैं यज्ञ करूँगा, दान देउँगा और आनन्द को प्राप्त होउँगा इस भाँति अज्ञान से मोहित मूढ़ पुरुष रहते हैं ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ॥
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

दोहा-लग्यो मनोरथ भूत हिय, बढ़ो मोह बड़जाल ॥
काम भोग आसक्त सठ, पावहिं नरक विशाल ॥१६॥

टीका-अनेक प्रकार की चित्तकी भ्रान्ति से मोहरूपी जालसे घिरे हुये जन केवल काम भोगही को परम पुरुषार्थ जानते हुए रौरवादि घोर अपवित्र नरक में पड़ते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः॥
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

दोहा-निज बड़ियाई नत करत, युत धन मद अरु मान ॥
नाम मात्र यज्ञन रचत, दम्भी बिना विधान ॥१७॥

टीका-अपने मनसे अपने को श्रेष्ठ जानकर अनम्र होकर धनकी अधिकता से मद और अभिमान से युक्त केवल प्रतिष्ठा के लिये वेदोक्त विधि त्याग कर कपट से यत्न करते हैं ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ॥
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

दोहा—अहंकार मद दर्प पुनि, काम क्रोध गहि लेत ॥
मोसे निजपर देह करु, द्वेष असूया देत ॥ १८ ॥

टीका—अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधसे युक्त होकर विवेकियोंकी निन्दा करते हुये मुझको सर्वव्यापी न जानकर द्वेष करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभा नासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

दोहा—ते नर मम दोषी अहैं, कूट अधम संसार ॥
असुर योनि डारौं तिन्हैं, अहि बृक बाघ सियार ॥१९॥

टीका—इन द्वेष करने वाले क्रूर और अमंगल नराधमों को जन्म मरण रूप मार्ग में अतिक्रूर नीच व्याघ्रादि पशु योनियों में डालता हूँ ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

दोहा—असुर योनि नर मूढ़ते, जन्म लहहिं बहु बार ॥
मोहिं लहे बिनु लहहिं पुनि, तन कृमि कीट अपार २०

टीका—वह मूर्ख लोग जन्म २ में आसुरी योनि को पाते हैं परन्तु हमारी प्राप्ति का उपाय नहीं पाते यानी व्याघ्रादि से भी नीच कृमि कीटादि योनि को पाते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ॥
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत २१

दो०–त्रिविध नरक के द्वार यह, देत आपको नास ॥
काम क्रोध अरु लोभ इन, सो छोड़े सुख वास ॥२१॥

टीका–काम, क्रोध, लोभ यह तीनों ज्ञान के नाश करने वाले नरक के द्वार हैं इस कारण से इन तीनों का त्यागना ही श्रेष्ठ है

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ॥
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परांगतिम् २२

दोहा–नरक द्वार तीनहु तजै, जो नर विमल विचार ॥
मम हित बहु साधन करहिं, लहहिं मोहि गुणपार॥

टीका–हे अर्जुन ! जो पुरुष इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त होकर अपना शुभाचरण करता है सो मोक्ष गति को अवश्य प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यःशास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारकः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥२३॥

दोहा—वेद विदित सब धर्म तजि, करहि आपु रुचि जोय
लहैं न ज्ञान न सुख लहैं, तासु मुक्ति नहिं होय॥२३॥

टीका–हे अर्जुन ! जो पुरुष वेद में कहे हुए धर्म को छोड़कर अपनी इच्छानुसार चलते हैं वह मनुष्य सिद्धि, मोक्ष सुख को नहीं पाते हैं ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणंते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि२४॥

इति श्रीम० देवासुर संपद्विभाग योगो नाम
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

दोहा—ताते शास्त्र प्रमाण जग, कार्य अकार्य विचार ॥
शास्त्र विहित सब कर्म तुम्र, करण योग सुप्रकार॥२४

टीका—हे अर्जुन ! इसलिये शास्त्र विहित कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्म को जानकर आप कर्म करने के अधिकारी हो इस लिये कर्म करने को आचरण करो ॥ २४ ॥

इति श्री मद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे पं० महाराज-दीन दीक्षित कृत भाषा दोहा व्याख्यायां देवासुर सम्पद विभाग योगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयाऽन्विताः ॥
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥१॥

दो—शास्त्र विहित तजि जो करहिं, मष श्रद्धा हियधारि ॥
कृष्ण कहा स्थित वाहि की, सत् रज तम निरधारि ॥

टीका—उक्त कथन श्रीकृष्ण का सुनकर अर्जुन ने कहा कि हे श्रीकृष्णचन्द्र ! जो लोग शास्त्रोक्त विधि को छोड़कर श्रद्धा युक्त यज्ञादि करते हैं उनकी क्या निष्ठा है ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ॥
सात्विकी राजसीचैव तामसी चेतितां शृणु ॥२॥

दो०—देहि स्वभावज होइ यह, श्रद्धा तीन प्रकार ॥
सात्विक राजस तमस सह, तेहि सुनु कुन्तिकुमार ॥२॥

टीका—हे अर्जुन ! प्राणियों की सात्विक, राजस, तामस यह तीन भाँति की श्रद्धा होती है यह पूर्व जन्म के साथही उत्पन्न होती है उसको तुम सुनो ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ॥
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

दोहा–निज स्वभाव अनुरूप जन, सबके श्रद्धा होय ॥
श्रद्धा भव जग जीव सब, जस श्रद्धा तस होय ॥३॥

टीका–समस्त मनुष्यों की श्रद्धा सात्विकी होती है इसीसे वह श्रद्धावान् कहे जाते हैं इस विषय में मुख्यता यह है कि जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसाही वह कहाता है ॥ ३ ॥

यजंते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ॥
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥४॥

दोहा–देवन सेवत सात्विकिहि, राजस राजसी पच्छ ॥
भूत प्रेतगण तेज जे, नरजु तामसी पच्छ ॥ ४ ॥

टीका–जो पुरुष देवताओं का पूजन करते हैं वह सात्विक, पक्षादिकों के पूजने वाला राजस, भूत प्रेतादिकों का पूजनेवाला तामस कहलाता है ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपोजनाः ॥
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

दोहा–शास्त्र विहित तजि घोर तप, जो जन करहिं असार ॥
भरयो दम्भ हंकार हिय, काम राग बल भार ॥ ५ ॥

टीका–जो लोग दम्भ, अहंकार, काम, आसक्ति और आग्रह इनसे युक्त होवैं और शास्त्र में अप्रसिद्धि होवैं ऐसे घोर तप को तपते हैं ॥ ५ ॥

कर्षयंतः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ॥
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्

दोहा–पंच भूत ये देह में, तिन को वह दुखदेत ॥

हिय में मोहूँ को हनत, तेहैं आसुर चेत ॥ ६ ॥

टीका—प्रायः बहुत से लोग पंचभूत और मुझको शरीर में व्याप्त न जानकर शास्त्रसे विरुद्ध तप करते हैं वह मूर्ख आसुर (अतिक्रूर) निश्चयवाले हैं ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ॥
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

दोहा—तीन भाँति आहार यह, सबको रुचिकर होय ॥
यज्ञ दान तप भेद से, मोपै सुनिये सोय ॥ ७ ॥

टीका—समस्त पुरुषोंको तीन प्रकार के आहार प्रियकर होते हैं वैसेही यज्ञ तप और दान भी तीन भाँति के हैं उनको विस्तार पूर्वक कहता हूँ सो सुनो ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ॥
रस्याःस्निग्धाःस्थिराहृद्याआहाराःसात्त्विकप्रियाः

दोहा—आयु सत्व आरोग्य बल, सुख रुचि बढ़ब निहार ॥
चीकन रस युत स्थिर रुचिर, सात्विक प्रिय आभार ८

टीका—हे अर्जुन ! आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख प्रीति इनके बढ़ाने वाला और मधुरादि पदार्थ, रसयुक्त, सुसुन्दर अन्नादिक सात्विकी जनों को ही प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ॥
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

दोहा—उष्ण कटु अम्ल अरु, रुक्ष विदाही खार ॥
अर्जुन राजस यह कहैं, इतने भाँति अहार ॥ ९ ॥

टीका—हे अर्जुन ! कडुआ, खट्टा, खारा, गरम, तीखा, रूखा, जो खाने से शरीर में दाह करै यह सातों प्रकार के भोजन अत्यन्त

गरम और अपनी योग्यता से बहुत शब्द के विशेषण युक्त हैं वही राजस जनोंके प्रिय होते हैं ॥ ६ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ॥
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

दोहा–ज्यहि पाकहि बीतो प्रहर, निरस बास दुरगन्ध ॥
जूठ अपावन जानिये, तामस प्रिय कर अन्ध ॥ १० ॥

टीका–जो अन्न यातयाम (ठंढ़ा अन्न) रसहीन दुर्गन्ध वाला बासी, अपवित्र, जूँठा ऐसे पदार्थ तामस जनों कोही प्रिय होतेहैं ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ॥
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

दोहा–विधि बिधान सो कीजिये, छोड़ि फलन की आस ॥
समाधान धरि हीयसों, सात्विक यज्ञ बिलास ॥ ११ ॥

टीका–हे अर्जुन ! यज्ञ करनाही चाहिये ऐसा एकाग्र मनसे दृढ़ निश्चय करके श्रद्धा भक्ति पूर्वक वेदकी विधि से जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक यज्ञ है ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ॥
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

दोहा–जो हिय धरि फल कामना, करहि यज्ञ युत दम्भ ॥
भरतश्रेष्ठ सो जानिये, राजस मख आरम्भ ॥ १२ ॥

टीका–हे भरत श्रेष्ठ ! जो यज्ञ निज प्रसिद्ध के लिये और स्वर्ग प्राप्ति की कामना से की जाती है वह राजस यज्ञ जानो १२

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ॥
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

दोहा–बिना अन्न बिन दक्षिणा, बिना मंत्र विधि हीन ॥

बिन श्रद्धा यज्ञहि करै, सो है तामस लीन ॥ १३ ॥

टीका-जिस यज्ञ में विधि, अन्न, दान, मंत्र दक्षिणा भक्ति नहीं है सो यज्ञ तामस जानो ॥ १३ ॥

देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ॥
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

दोहा-देव विप्र गुरु तत्वविद, पूजन सुचि ऋजु भाय ॥
ब्रह्मचर्य हिंसा रहित, तप शारीर कहाय ॥ १४ ॥

टीका-देवता, ब्राह्मण गुरु इनको पूजन करना, पवित्रतासे रहना, ब्रह्मचर्य और अहिंसा से रहना यह लक्षण शारीरिक तपके हैं ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ॥
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

दोहा-अभय सत्य प्रिय हित बचन, अर्जुन भाषै जोय ॥
करै वेद अभ्यास पुनि, वाचक तप यह होय ॥ १५ ॥

टीका-किसीके चित्त को दुःख न देना, सत्य बोलना, प्रिय और हितकी वार्ता कहना, वेदाभ्यास करना यह वाणी का तप कहलाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ॥
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

दोहा-मन प्रसाद शुभ शीलता, मनन शील मन जीत ॥
कपट रहित जिय जानिये, मानस तप पुनि गीत ॥ १६ ॥

टीका-मनकी प्रसन्नता, सरल स्वभाव, मौन, विषयादिकों के मनका निग्रह अपने और पराये में सदैव शुद्ध चित्त रहना यह मानस तपके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

श्रद्धयापरया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ॥
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकंपरिचक्षते ॥ १७ ॥

दो०—एक एक यह सब त्रिविध, श्रद्धाकृत सब जानु ॥
काम रहित एकाग्रचित, सात्विक तप यहि मानु ॥ १७ ॥

टीका-फलकी आशा को छोड़ कर जो तप उत्तम श्रद्धा से एकाग्रचित्त द्वारा किया जाता है सोई तीन प्रकार का तप सात्विक कहलाता है ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ॥
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

दो०—पूजा आदर मानको, और दम्भ के काज ॥
सो तप राजस कहत हैं, चञ्चल छनक समाज ॥ १८ ॥

टीका—जो तप कपट से, सत्कार और प्रतिष्ठा के लिये किया जाता है सो क्षणिक और अनित्य राजस तप कहलाता है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ॥
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

दो०—मूढाग्रह आत्मार्तिसो, पर उत्सादन लाय ॥
करत तपस्या जोय सो, तामस तप कहलाय ॥ १६ ॥

टीका—बिना उचित अनुचित विचार किये मूढता को धारण किये अपनी आत्माको पीड़ा देनेके वास्ते जो कुछ तप किया जाता है वह तामस तप कहाता है ॥ १६ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ॥
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दो०—दान करै बिन कामना, चहहिं न प्रति उपकार ॥
देश काल लखि पात्र लखि, सात्विक दान प्रकार ॥ २० ॥

टीका—फलकी इच्छा छोड़कर उत्तम बुद्धि से उत्तम स्थान में सत्पात्रको बिना निज उपकार विचार किये जो कुछ दिया जाता है वह सात्विक दान कहाता है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ॥
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् २१

दो०—फल हित प्रति उपकार हित, करहिं दान जन जोय ॥
चित कलेश युत दान जो, कहिये राजस सोय ॥२१॥

टीका—इस दान से लेनेवाला मुझपर उपकार करेगा ऐसा बुद्धि से फलकी इच्छा करके, इस दान करने में विशेष धनका खर्च है, इस भाँति विचारा विचार करके जो दान दिया जाता है वह राजस दान कहाता है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ॥
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

दो० बिना देश बिन काल जो, दान अपात्रहि देहि ॥
आदर रहित विनय रहित, तामस कहिये तेहि ॥२२॥

टीका—अपवित्रस्थान में, अपवित्र समय में या सत्पात्र को तिरस्कार करके जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहाता है ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः॥
ब्राह्मणस्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३॥

दोहा—ॐ तत्सत् यह तीनि हैं, नाम ब्रह्मके जानु ॥
ब्राह्मण वेद अनेक मख, याते किय निरमानु ॥२३॥

टीका—हे अर्जुन ! "ॐतत्सत्" यह तीन शब्द उपनिषदों के मध्य ब्रह्मके वाचक हैं ब्रह्मदेव सृष्टि रचने के समय उक्त

तीनों शब्दों को उच्चारण करके ब्राह्मण, वेद, यज्ञ का निर्माण किया है ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ दान तपः क्रियाः ॥
प्रवर्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

दोहा—तातें ओमिति भाषि पुनि, क्रिया यज्ञ तप दान ॥
बतैं इमि श्रुति वादि मुनि, कहत सदैव विधान ॥२४॥

टीका—इसी कारणसे उक्त विधिके अनुसार सदैव यज्ञ, दान और तप को ओंकार पूर्वक वेदवेत्ता करते हैं ॥२४॥

तदित्यनाभिसंधाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः ॥
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियंतेमोक्षकांक्षिभिः २५

दोहा—ताते कालको छोड़कर, दान तपस्या युक्त ॥
दान क्रिया बहु करत हैं, जो चाहत हैं मुक्त ॥२५॥

टीका—मोक्ष की इच्छा करनेवाले पुरुष तत् शब्दको उच्चारण करके फलकी इच्छा को छोड़कर अनेक भाँति के दान यज्ञ तप करते हैं ॥ २५ ॥

सद्भावेसाधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ॥
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।२६॥

दोहा-साधु भाव सदभाव पुनि, मंगल कर्म अनेक ॥
पार्थ इते सब कह कहिय, सतयुत विमल विवेक ॥२६॥

टीका—हे पार्थ! वस्तुका अस्तित्व और पदार्थों का अच्छापना इनमें 'सत्' यह शब्द लगता है उसी भाँति श्रेष्ठ कर्मके विषे भी सच्छब्द बोला जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दानेच स्थितिः सदिति चोच्यते ॥
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

दोहा—तप मख दान स्थितिहु महँ, अर्जुन सदिति कहाहिं।
सदिति कहत पुनि तेहु कहँ, कर्म तदर्थ जु आहिं॥२७॥

टीका—यज्ञ, दान, तप इन तीनों में जो सत् शब्दका प्रयोग होता है॥ २७॥

अश्रद्धयाहुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्॥
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

इति श्रीमद्भगव० श्रद्धात्रय योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

दोहा—जाते काल को छोड़कर, दान तपस्या युक्त॥
दान क्रिया बहु करत हैं, जो चाहत हैं मुक्त॥२८॥

टीका—हे कौन्तेय! हवन, दान, तप और जो कुछ कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं वह सब असत हैं और इससे इस लोक व परलोक का कुछ फल नहीं होता है इस श्रद्धा भाव भक्ति युक्त काम को करना चाहिये॥ २८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुन संवादे पं० महाराज दीन दीक्षित कृत भाषा टीका दोहा व्याख्यायां श्रद्धात्रयविभाग योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

॥ अथ अष्टादशोऽध्यायः प्रारम्भः॥

॥ अर्जुन उवाच॥

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्॥
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥१॥

दोहा—चहौं त्याग सन्यास को, जाना तत्त्व अनन्त॥
केशिविनाशन महाभुज, हृषीकेश भगवन्त॥ १॥

टीका—अर्जुन श्रीकृष्ण प्रति बोले कि-हे-हृषीकेश! हे केशि-निसूदन! हे महाबाहो! संन्यास और त्याग इनका सार त

अर्थ पृथक् २ मेरी सुननेकी इच्छा है सो कृपया मुझ प्रति वर्णन करिये ! ॥ २ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

दो०–कामयुक्त कर्मनि तजै, ताहि नाम संन्यास ॥
कर्म फलनि को त्याग यह, त्याग कहत सुखबास ॥२॥

टीका–हे अर्जुन ! फल की इच्छा से यज्ञादि कर्मों के त्यागको संन्यास कहते हैं और नित्यनैमित्तिक कर्म को करते हुये फलकी इच्छा को त्यागना उसे भी विद्वान् पुरुष त्याग कहते हैं ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

दो०–त्याज्य दोषवत् कर्म है, इमि कह कोइ सुजान ।
तप मख दान न त्याज्य है, कर्म कहैं इमि आन ॥३॥

टीका–कितनेही पण्डित जन शास्त्रनिषिद्ध मदिरादिके पीने को ही त्याग कहते हैं और कितनेही विद्वान जन यज्ञ कर्म, दान कर्म, तप कर्म को त्यागना ही नहीं चाहिये ऐसा कहते हैं ॥३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ॥
त्यागोहि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

दो०–त्याग सुनहु भारत विमल, इन दुहुमत को सार ॥
पुरुषसिंह कविजन कहै, त्यागहु तीन प्रकार ॥ ४ ॥

टीका–हे भरतश्रेष्ठ ! त्याग भी सात्विकादि भेदसे तीन भांति का है उसका निश्चय हे पुरुषव्याघ्र ! सुनो ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

दो०—यज्ञ दान तप कर्म जे, कीजै तजिये नाहिं॥
याते पंडित जन इन्हैं, गनत पवित्रनि मांहिं॥

टीका—हे अर्जुन! यज्ञ, दान, तप, यह तीनोंही करने के योग्य हैं इनका त्याग किसी समय उचित नहीं है कारण कि उक्त तीनों बुद्धिमानों के चित्त के शुद्धि का कारण हैं॥ ५॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानिच॥
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६॥

दो०—यज्ञ आदि सब कर्म यह, करिये त्यागि हंकार।
केवल मम हित त्यागि फल, मम मन यह निर्धार॥६॥

टीका—हे अर्जुन! किसी कर्ममें आसक्ती न रखकर फलाशा को छोड़कर उक्त कर्मों का आचरण करना चाहिये यही मेरा निश्चित मत है॥ ६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणा नोपपद्यते॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥७॥

दो०—जो अवश्य करनो करम, ताको छांड़ि न देय॥
जो छाँड़ै अग्यानते, सोइ तामस गति लेय॥७॥

टीका—हे पार्थ! श्रुत्यादि द्वारा कहे हुये नित्यकर्मों का कभी भी त्याग करना उचित नहीं है और जो कोई पुरुष अज्ञानता से उक्त नित्यकर्म को त्याग कर देते हैं वह तामस त्याग कहाता है ७

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्॥
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥८॥

दोहा०—काय क्लेश भय दुखद गनि, नित्य कर्म तजि जाय।
करिकै राजस त्याग पुनि, लह न त्याग फल सोय ८

टीका—जो पुरुष जिस कर्म से निज शरीर का दुःख जानकर

त्यागता है वह त्याग राजस है इस त्याग से कोई अर्थ नहीं सिद्ध होते हैं ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ॥
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ९।

दोहा—करिवे योग्य अवश्य यह, कर्म करहि अस जानि ॥
अहंकार अभिलाष गत, सात्विक त्याग बखानि ॥९॥

टीका—हे अर्जुन ! यह कर्म अवश्य करना चाहिये इस बुद्धि से जो कर्म किया जाता है और साथही कर्मफल की आशा नहीं रखता सोई सात्विक त्याग है ॥९॥

न द्वेष्टयाकुशलं कर्म कुशलं नानुषज्जते ॥
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः १०।

दोहा—दुखद कर्म नहिं द्वेषही, सुखदहि नहिं अनुराग ॥
मेधावी संशय नहीं, वह है सात्विकत्याग ॥१०॥

टीका—जो पुरुष सुखद कर्ममें सुख का और दुखद कर्म में दुखका आचरण न करै वह सात्विक त्यागी निर्मल बुद्धि और बलको प्राप्त होता है सोई निस्सन्देह निवृत्तिको पाता है और वही सन्यासी भी है ॥ १० ॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥
यस्तुकर्मफलत्यागी सत्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

दोहा-नहिं तनु धारी तजि सकै, अर्जुन कर्म अशेष ॥
ताते कर्म करै तजै, फल त्यागी तेहि लेष ॥ ११ ॥

टीका—यह शरीर धारी मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों को त्याग नहीं कर सक्ते इस कारण कर्मफल की आशाको छोड़कर कर्म त्याग करै और वही त्यागी भी कहलाता है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥

भवत्यत्यागिनां प्रेत्यनतुसंन्यासिनांक्वचित् १२

दोहा-सुर तन नरतन नरकतन, लहहिं कर्म फल तीन ॥
जो सकाम कर्मी अहैं, नहिं अकाम जिन कीन ॥१२॥

टीका-काम्य कर्म करनेवाले पुरुषों की मृत्यु होने पर पाप कर्मके सकाशसे नरक में, पुण्य कर्म के द्वारा स्वर्ग में और पाप पुण्य मिश्रित कर्मके प्रभाव से मनुष्यों में जन्म होते हैं और काम्यकर्म त्यागी (संन्यासी) को उक्त फल कदापि नहीं होते हैं।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्तेप्रोक्तानिसिद्धयेसर्वकर्मणाम् १३

दोहा-सर्व कर्म की सिद्धि के, पाँच हैं कारण वीर ॥
कहे सांख्य वेदान्त महँ, मोसे सुनु धरि धीर ॥१३॥

टीका-हे महाबाहो ! समस्त कर्मों की सिद्धिके लिये सांख्य शास्त्रमें पाँच कारण कहे गये हैं उनको हे पार्थ ! तुम सुनो॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ॥
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवंचैवात्रपंचमम् ॥१४॥

दोहा-अधिष्ठान कर्त्ता अवर, करण पृथग्विध जोय ॥
विविध पृथक् चेष्टा अपर, दैव पाँचवां होय ॥१४॥

टीका-शरीर, अहंकार, नेत्रादि इन्द्रियाँ, प्राणादि वायुओंकी चेष्टा और पाँचवां दैव यह पाँचो कारण कहे गये हैं ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्मप्रारभते नरः ॥
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥१५॥

दोहा-मन अरु बचन शरीर से, कर्म करत जो साज ॥
भलो बुरो कोऊ करै, इन बिन होय न काज ॥१५॥

टीका-हे अर्जुन ! शरीर, वाणी, मन इनके द्वारा मनुष्य

मात्र जो उचित या अनुचित कर्म करते हैं, तिन सब कर्मों के भी यह पूर्वोक्त पांच कारण (हेतु) हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ॥

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः १६

दोहा—ऐसेहू महँ जो लखै, केवल आत्महिं जोय ।
अकृत बुद्धि दुर्बुद्धि नहिं, लखै करीटी सोय ॥१६॥

टीका—जो पुरुष अपनी बुद्धि से केवल (अपने) आत्मा को ही कर्त्ता जानता है कि जो कुछ करते हैं सो हमही करते हैं वह सत्यदर्शी न होकर दुर्मति है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥

हत्वापि स इमाँल्लोकान्नहंति न निबध्यते॥१७॥

दो०—जिनके हिय शंका नहीं, मति न लगै पुनि काहि ॥
सोइ जन सब लोकन हतहि, तउ न हतहि नवधाहि ॥

टीका—"मैं कर्म करने वाला हूँ" ऐसा जिस पुरुषको अभिमान नहीं है इसी कारण से उसकी बुद्धि प्रिय और अप्रिय कर्ममें लिप्त नहीं होती वह आत्मदर्शी पुरुष संसारकी दृष्टिसे इन लोगोंको मार करके भी नहीं मारता और वह तिस पापसे बँधता भी नहीं है इस हेतुसे हे अर्जुन ! यह जो भीष्मपितामहादि हैं इनके वध करने पर भी तुम्हारे समदृष्टि होने के कारण से पाप को न प्राप्त होवोगे ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना ॥

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः ॥ १८ ॥

दो०—प्रेरक तीन्यों कर्म के, ज्ञात ज्ञेय औ ज्ञान ॥
कारण कर्त्ता कर्मके, साधन इनको जान ॥ १८ ॥

टीका—ज्ञान (कर्त्तव्य कर्मका जानना) ज्ञेय (वह कर्म) ज्ञाता

(भली भांति जाननेवाला) यह तीनों कर्म प्रवृत्ति में प्रेरणा करने वाले साधन (कारण) हैं ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ॥
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

दोहा—अहैं त्रिविध गुण भेद तहँ, ज्ञान कर्म करतार ॥
ज्यहिविधि कहेहैं सांख्य महँ, तिनको सुनु कुन्तिकुमार॥

टीका—हे अर्जुन! ज्ञान, कर्म, कर्त्ता इनका विवरण सांख्य शास्त्र में कपिल मुनिने सत, रज, तम गुणों के भेद जो कहे हैं वैसेही हे कौन्तेय! मैं तुम्हारे प्रति कहता हूं सो सुनो ॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ॥
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्॥

दो०—सब भूतन महँ देखि जिन, एक तत्व अविकार ॥
ब्रह्म आदि तृण अन्त तक, सात्विक ज्ञान विचार ॥

टीका—हे अर्जुन! समस्त प्राणी मात्रमें तृण पर्यन्तज्ञानद्वारा एकसी, अविनाशी जो आत्मभावना देखी जाती है सोई सात्विक ज्ञान है ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्॥
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

दोहा—अनेक भावन में लखै, न्यारो न्यारो जान ॥
भिन्न लखै सब जीवको, राजस ज्ञान सुजान ॥२१॥

टीका-जो ज्ञान समस्त प्राणी मात्रमें सुख दुःखादि भेद से पृथक् २ देखा जाता है उसको तुम हे महाबाहो ? राजस ज्ञान जानो ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।

अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२॥

दोहा-एक कार्यके मध्यमें, बिना हेतु के होय ॥
तत्व भांति नहिं जानिये, तामस कहिये सोय ॥ २२॥

टीका-हे अर्जुन ! जिस ज्ञान से एक देह या एक प्रतिमा में आत्मा अथवा ईश्वरही परिपूर्ण है या यह इतनाही है ऐसे भ्रम रूप विचार से युक्त पुरुष का ज्ञान तामस कहाता है ॥ २२ ॥

नियतं संगरहितमराग द्वेषतः कृतम् ॥
अफलप्रेमप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ।२३॥

दोहा-नित्य रहित हंकार जो, राग द्वेष बिन कीन ॥
नहिं हिय फलकी कामना, सात्विक कर्म प्रवीन ॥२३॥

टीका-अब सत्वादि भेद से कर्म के तीन भेद कहते हैं हे अर्जुन ! जो कर्म नित्यही किया, जावै आसक्ति रहित होवै, राग द्वेषसे वर्जित हो, फलकी इच्छाको त्याग करके किया जावै वह कर्म सात्विक कहाता है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुनाकर्म साहंकारेण वा पुनः ॥
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

दोहा-जो कीजै करि कामना, कीजै करि हंकार ॥
तामें सुख है अति घनो, सो राजस निरधार ॥ २४ ॥

टीका-जो कर्म फलकी आशा करके अहंकार पूर्वक अत्यन्त कष्टसे किया जावै कि इस कर्म में मुझे अति सुख मिलैगा ऐसा वह कर्म राजस कर्म कहाता है ॥ २४ ॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ॥
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

दोहा-क्षय हिंसा अनुबन्ध करि, नहिं पौरुष को देख ॥
मोहहि से जो कर्म करु, तामस कहैं सुलेख ॥ २५ ॥

टीका-इस कार्य के करने से आखीर में क्या फल होगा पर पीड़ा द्रव्यादिकों का क्षय और अपना सामर्थ्य इनका कुछ भी ध्यान न करना और कार्य में तत्पर रहना उस कर्म को तामस कर्म कहा है ॥२५॥

मुक्तसंगोऽनहंवादीधृत्युत्साहसमन्वितः॥
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विकउच्यते

दोहा-गर्भ बचन हंकार गत, उद्यत युत धृति मान॥
भये न भये समान चित, कर्त्ता सात्विक जान ॥२६॥

टीका-हे अर्जुन! जिस पुरुषने फलकी इच्छा को छोड़कर, निराभिमान, खर्च करने में धैर्य, उद्यम करने में तत्पर, कार्य के सिद्धि असिद्धि की तरफ विकार रहित जो कर्म करनेवाले कर्त्ता हैं वह कर्त्ता सात्विक कहे जाते हैं॥ २६॥

रागीकर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः॥
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

दोहा-अशुचि कर्म फल कहँ चहत, रागी हिंसक जोय॥
लुब्ध शोक आनन्दयुत, कर्त्ता राजस सोय॥ २७॥

टीका-जो पुरुष पुत्र पौत्रादि की प्रीतियुक्त कर्मजनित फल की इच्छा करने वाला लोभी, दूसरे को पीड़ा देने वाला, भीतर बाहर अपवित्र, प्रियाप्रियके प्राप्त होने में हर्ष विषाद को प्राप्त होनेवाला कर्त्ता राजस कहलाता है॥ २७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः॥
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

दोहा-थोरे दिनके काम को, बहुत लगावै बार॥
ताही सों सब कहत हैं, यह तामस करतार॥ २८॥

टीका-जो पुरुष उचित मार्गको छोड़कर विवेक शून्य, अनम्र कपट से दूसरे के तिरस्कारमें प्रवृत्त होना, कपटी, आलसी दुःखी फलकी आशासे कार्य करना इत्यादि गुणों से युक्त पुरुष तामस कर्त्ता कहाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

दो०-धृति मति कर भेदहु सुनो, गुणसों तीन प्रकार ॥
भिन्न भिन्न करि मैं कहौं, तुमसों कुन्तिकुमार ॥ २९ ॥

टीका-हे अर्जुन ! जिससे पदार्थ के तत्वको जानकर कुछभी कार्य करने में प्रवृत्त होता है वह बुद्धि और चित्तवृत्तिरूप धीरज इन दोनों के सत्वादि गुणों के भेद से तीन २ प्रकार के भेद मैं कहता हूं सुनो ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ॥
बंधंमोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी३०

दो०-आरति अधर्म निधर्म रति, जानहिं काज अकाज ॥
बंध मोक्ष भय अभय जेहि, सात्विक बुद्धि बिराज ॥३०॥

टीका-हे अर्जुन ! जो बुद्धि धर्म में प्रवृत्त, अधर्म में निवृत्त योग्य कार्यमें, भयमें, अभयमें, निन्दितकर्म में, बन्ध और मोक्ष में उचित विचार के जाननेवाली होवै वह बुद्धि सात्विकी है ३०

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।३१।

दो०-जानहि धर्म अधर्म जेहि, काज अकाजहि जानु ॥
संशय सहित पृथा तनय, बुद्धि राजसी मानु ॥ ३१ ॥

टीका-हे पार्थ ! जिस बुद्धि से धर्म और अधर्म कार्य और अकार्य इनको अच्छी तरह नहीं जान सक्ता याने संशय से

जानता है सो उस बुद्धि को राजसी जानना ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिःसा पार्थ तामसी ३२

दो०—जान पापहि पुण्य करि दंभ अज्ञानी होय ॥
लखै अर्थ विपरीत सब, बुद्धि तामसी सोय ॥ ३२ ॥

टीका—हे अर्जुन ! जो बुद्धि अधर्म को धर्म, पाप को पुण्य झूँठ को साँच जानने वाली है वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेंद्रियक्रियाः ॥
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिःसा पार्थसात्विकी ३३

दो०—क्रिया प्रान मन इन्द्रियहु, अर्जुन जेहि कर धार ॥
योग से अव्यभिचारि रहु, सात्विक धृति सो उदार ३३

टीका—हे अर्जुन ! चित्त की वृत्ति को एकाग्रता होने से अन्य विषयों का चिन्तवन न करती हुई और जिस धृति से मन प्राण और इन्द्रियां इनकी क्रियाओं को नियमन किया जाता है वही सात्विकी धृति [धैर्य] है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ॥
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।३४।

दो०—अर्थ धर्म पुनि काम दृढ़, धारहिं जन गहि जोय
तासु प्रसंग फल चहहिं जो, राजस धीरज होय ॥३४॥

टीका—हे अर्जुन ! जो धैर्य पूर्वक धर्म, अर्थ, काम धारण किये जाते हैं और जिसके द्वारा पुरुष फलकी इच्छा करता है सो धैर्य राजसी जानो ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भय शोक विषादं मदमेव च
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिःसा पार्थ तामसी ३५

दोहा-स्वप्न शोक भय दुःख मद, इनको छांड़त नाहिं ॥
दुर्मति ताको जानिये, धृति तामसी सो आहिं ॥ ३५ ॥

टीका-हे पार्थ ! जो पुरुष अज्ञान बस दूषित बुद्धि को धारण किये अत्यन्त निद्रा, भय, शोक, खेद और अभिमानयुक्त है उस पुरुषका धैर्य तामस गुण युक्त जानना ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु, मे भरतर्षभ ॥
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति॥३६॥

दोहा-तीन भांति के सुखहु हैं, तिनको सुनु कुरुराय ॥
अभ्यासहिं से रमै जहँ, दुःख अन्त कहँ पाय ॥ ३६ ॥

टीका-हे भरतर्षभ ! अर्जुन सत्वादि गुणके भेद से सुख तीन भांति के हैं उनको तुम सुनो कि जिस सुख में दृढ़ निश्चय होने से मनुष्य रमता है और जिससे दुःख का नाश होता है ॥३६॥

यत्तदग्रेविषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्३७

दोहा-जो प्रथमहिं विषसों लगै, अन्त अमी सा होय ॥
निर्मल आतम मति जनित, सात्विक सुख लखु सोय ।३७।

टीका-जो सुख प्रथम विषकी भाँति हो और अन्त में अमृत तुल्य होवै, आत्म सम्बन्धी बुद्धिको प्रसन्न करने वाला हो उस सुख को सात्विक सुख जानो ॥ ३७ ॥

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेमृऽतोपमम् ॥
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

दोहा-इन्द्रिय विषय संयोग से, सो सुख लहहिं अपान ॥
प्रथम अमीसो अन्त विष, जो राजस सुख जान॥३८॥

टीका-जो सुख विषयेन्द्रियोंके संयोग से प्रथम अमृत के

तुल्य होवै और अन्त में विषके तुल्य दुःख देने वाला हो जावै ऐसा सुख राजस है ॥ २८ ॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ॥
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

दोहा-आदि अन्त में हित करै, जो सुख आपहि तात ॥
आलस नींद प्रलाप पुनि, सो तामस विख्यात ॥ ३९॥

टीका-जो सुख आदि अन्त में बुद्धि का मोहित करनेवाला, निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ हो सो सुख तामस कहाता है ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ॥
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ४०

दोहा-दिवि भुवि दे नहीं कोई, प्राणी अर्जुन बीर ।
प्रकृति जन्य इन गुणन सों, जो छूटै रणधीर ॥ ४० ॥

टीका-हे अर्जुन ! इस विषय में मैं कहाँ तक कहूँ परन्तु सत्वादि तीनों गुणों से पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग और ब्रह्मादि से लेकर समस्त मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक कोई नहीं छूटा है कि जिसमें उक्त तीनों के मध्य एक गुण न होवै यानी यह तीनों गुण एक न एक रूप से समस्त जगत् में व्याप्त हो रहे हैं ॥ ४० ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप ॥
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

दोहा-द्विज क्षत्रिय अरु वैश्य के, और शूद्र के कर्म ॥
निज स्वभाव गुण सो भये, न्यारे न्यारे धर्म ॥ ४१ ॥

टीका-हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों के गुण सत्वादि गुणों के भेद से स्वभाव जन्म स्वरूप यथा योग्य पृथक् २ विभाग किये गये हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेवच ॥
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ४२

दोहा–शम दम तप रिजुता क्षमा, शौच ज्ञान विज्ञान ॥
आस्तिकता यह विप्र के, कर्म स्वभावज मान ॥४२॥

टीका–चित्त की शान्ति, इन्द्रियों का जीतना, शरीर से तीन भांति का तप, मन और शरीरकी शुद्धि, क्षमा, सहज स्वभाव, वेद और शास्त्र में यथातथ्य ज्ञानका निश्चय, गुरु-वेद–शास्त्र कर्म फल और कर्म फल दाता (ईश्वर) में भक्ति पूर्वक श्रद्धा यही स्वभाविक कर्म धर्म ब्राह्मणों के हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ॥
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥

दोहा–शौर्य धैर्य अरु दक्षता, तेज ईशता जान ॥
रण न भाग बाहुज करम, कर्म स्वभावज जान ॥ ३॥

टीका–शूरवीर होना, तेज, धैर्य चतुरता, युद्ध से न भागना उदारता और प्राण पालन शक्ति यह गुण क्षत्री के स्वाभाविक सिद्ध कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥

दोहा-कृषी वनिज पशु पालना, वैश्य स्वभावज कर्म ॥
तीन वर्ण सेवा करण, शूद्र स्वभावज कर्म ॥ ४४ ॥

टीका–खेती करना, गौ आदि का पालन करना, वाणिज्य करना यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं, ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करना यह शूद्र का कर्म है ॥ ४३ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृण ।४५।

दोहा-निज निज कर्मके मध्यमें, सिद्धि लहै सब कोय ॥
सो विधि अब मुझसे सुनो, कर्म सिद्धि जो होय ४५

टीका-जो पुरुष निज भले बुरे स्वधर्म को ग्रहण करके जो कार्य करते हैं और जिस ज्ञान रूप सिद्धि को पाते हैं उसको हे अर्जुन। जिस भांति स्वकर्म को करते हुये कैसा ज्ञान पाते हैं सो सुनो ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः४६

दोहा-जाते उपजत जीव सब, जिन कीनो विस्तार ॥
कर्म करै ताको तबै, सिद्धि लहै नर सार ॥ ४६ ॥

टीका-हे अर्जुन ! जिस परमेश्वर से समस्त स्थावर जंगमात्मक प्राणीमात्र की उत्पत्ति अथवा उनकी इन्द्रियादिकों को कर्ममें प्रवृत्ति होती है जिस परमेश्वर ने यह सब जगत् को चारों ओर से व्यापा है तिस परमेश्वर को अपना २ कर्म करते हुये उपासना करने से मनुष्य को चित्त शुद्धि पूर्वक ज्ञान रूप सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥

दोहा-उत्तम हूँ परधर्म से, नीक नीच निज धर्म ॥
वद्ध होत नहिं पाप से, करत स्वभावज कर्म ॥४७ ॥

टीका-हे अर्जुन ! पर धर्म से अपना धर्म नीच भी हो तो भी अपनेही धर्मानुकूल आचरण करना श्रेष्ठ है कारण कि निज धर्म के अनुकूल आचरण करने से मनुष्य दुःखको नहीं प्राप्त होता है॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

दो०-सहज कर्म निज दोष युत, तऊ न तजिये जानु ॥
कर्म सकल लखि दोष युत, जिमि युत धूम कृशानु ॥

टीका—हे अर्जुन! निज स्वभाव कर्म यदि दोष युक्त भी हो तो भी उसे त्याग करना उचित नहीं है जैसे धूम से युक्त अग्नि रहती है उसी भांति समस्त धर्म, कर्म किसी न किसी दोष से अवश्य युक्त ही रहते हैं॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ॥
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमाँ संन्यासेनाधिगच्छति ॥

दो०—नहिं वांछा आत्माजितते, मति सर्वत्र असक्त ॥
परम सिद्धि संन्यासते, लह अकाम असभक्त ॥ ४६॥

टीका—हे अर्जुन! जो पुरुष स्त्री पुत्रादि में आसक्त न हो कर अहंकार रहित फल की इच्छा को न करते हुये निःपरवाह कर्म करते हैं वह कर्मासक्ति त्याग रूप सिद्धि को प्राप्त होकर नैष्कर्म्य सिद्धि (मोक्ष) को पाते हैं॥ ४६ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोधमे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

दो०—परम हंस स्थिति लहि लहहि, जिमि परब्रह्म सुजान
संक्षेपहि सो कहत हूं, कुन्तीसुत पहिचान ॥ ५०॥

टीका—हे कौन्तेय संन्यास करके नैष्कर्म्य रूप सिद्धि को पाया हुआ पुरुष जिस भांति ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है वही मैं संक्षेप से तुम प्रति आत्म ज्ञान प्राप्त होनेका उपाय करता हूँ ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च॥
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः॥

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ॥
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

दो०—शुद्ध बुद्धियुत आत्म कहँ, अचल धैर्य सो धारि
तजि शब्दादिक विषय कहँ, राग द्वेष को मारि॥५१॥
बसि विशुद्ध थल असन लघु, संशय मन वच काय ॥
सदा ध्यान रत हरि परस, दृढ बैराग सुहाय॥ ५२ ॥
अहंकार बल दर्प तजि, काम परिग्रह कोह ॥
ममता गत समता सहित, ब्रह्म रूप सो सोह ॥५३॥

टीका—सत्वादि बुद्धि से युक्त होकर धारणाशक्ति द्वारा उसको निश्चय करके, शब्दादि विषय और राग-द्वेषकोत्याग करके एकान्त देश में निवास करके, स्वल्प भोजन करके' वाणी, शरीर और मनको नियमित करके बैराग से युक्त होकर, ध्यान योगमें तत्पर होकर, अहंकार, बल' अभिमान, काम क्रोधा, परिग्रह माया को छोड़कर जो पुरुष शान्त चित्त होता है वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होने के योग्य होता है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ॥
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

दो०—ब्रह्म स्वरूप प्रसन्न चित, नहिं शोचहिं नहिं चाह ॥
सब भूतन सम लहहि मम, पराभक्ति परलाह ॥५४॥

टीका—हे अर्जुन ब्रह्म भावको प्राप्त हुआ पुरुष प्रसन्न चित्त, नष्ट वस्तुका शोक न करना, अप्राप्त वस्तु की इच्छा से रहित, समस्त भूतोंमेंसम बुद्धि होकर मेरी परम भक्तिको पाता है

भक्त्यामामभिजानातियावान्यश्चास्मितत्वतः

तते मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ।५५।

दो०-परा भक्ति अति उच्च है, तामे कुछ नहिं हेत ॥

सत संगति ते पायकर, लहै प्रेम को खेत ॥ ५५ ॥

टीका-जो पुरुष अचल बुद्धि द्वारा मुझको यथार्थ रूप से सच्चिदानन्द सर्वव्यापी जानता है वह फिर तत्त्व ज्ञान से परमानन्द रूपको प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ॥

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।५६।

दो०-सकल कर्म नित्यहि करै, मम आश्रित नर जोय ॥

मम प्रसाद पावहिं सुजन, अविनाशीपद सोय ॥ ५६ ॥

टीका-हे अर्जुन! जो पुरुष मेरा आश्रय लेकर परमावश्यक कर्त्तव्य कर्म को करके उक्त आचरण को वर्तता है सोई पुरुष मेरी ही कृपा से नाश रहित शाश्वत पदको प्राप्त होता है ॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

दो०-मनसे मोमें कर्मकरि, कर्म मोहि हिय चाहि

ज्ञान योग गहि मोहिचित, राखहु सदा सराहि ॥५७॥

टीका-हे पार्थ! मुझकोही परम पुरुषार्थ रूप समझ कर समस्त कर्मको मेरेही में समर्पण करके एकाग्र बुद्धि द्वारा सदैव मेरे ध्यान में तत्पर रहो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुःखाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।५८।

दो०-मो मन ह्वै दुःखन सहहु, तौ मो प्रसाद तरिजाहु ॥

अंहकार सो नहिं सुनहु, जो तौ फेरि नशाहु ॥ ५८ ॥

टीका-हे अर्जुन ! यदि तुम मेरे ध्यान में युक्त हो तो मेरी अनुग्रह से संसार रूपी दुःखों से शीघ्र पार उतर जावोगे और अज्ञान बश यदि मेरी आज्ञा को न सुनोगे तो अपने पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जावोगे ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ॥
मिथ्यैषव्यसायस्तेप्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति ॥५९॥

दो०-तुम हिय धरि अहंकार जो, हम न लरहिं असमानु ॥
यह तुम्हार मानब मृषा, प्रकृति वस्य निज जानु ॥५९॥

टीका-हे कौन्तेय ! आप यह भलेही कहो कि, मैं पुरुषार्थ से चाहे भ्रष्ट हो जाउँ परन्तु स्वजनों प्रति युद्ध नहीं करूँगा और ऐसाही चाहे तुम भलेही मान भी लो परन्तु तुम प्रकृति के आधीन हो इससे वह रजोगुणी प्रकृति उक्त कर्मानुरूप युद्ध विषे तुमको प्रवृत्तिही करैगी ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धःस्वेन कर्मणा ॥
कर्तुनेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत् ६०

दो०-निज नैसर्गज कर्म से, बद्धहु जो अरिताप ॥
करन चहौ नहिं मोहसे, अवसि करो सो आप ॥६०॥

टीका-हे कौन्तेय ! निज स्वभाव सिद्ध शौर्यादि कर्म से निबद्ध होकर मोहवश जो तुम युद्ध करने की इच्छा नहीं करतेहो तथापि वह स्वभाव सिद्ध धर्म द्वारा तुम युद्ध अवश्य करोगे॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति ॥
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥६१॥

दो०-बसहि ईश सब भूत हिय, गहि निज माया सूत ॥
दारु यंत्र जिमि सूत्र धर, भरमावहिं सब भूत ॥६१॥

टीका-हे अर्जुन ! जिस भाँति कोई बाजीगर सूत्र से बँधी

हुई कठपुतली को नचाता है उसी भाँति ईश्वर समस्त भूत मात्रों के हृदय में स्थित होकर कर्म यंत्र द्वारा सबको भ्रमाता है।

तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत॥
तत्प्रसादात्परांशांतिंस्थानंप्राप्स्यसिशाश्वतम्

दो०-होहु सदा वाके शरण, अर्जुन तू सब भाय॥
अविनाशी स्थिर शांति पद, बड़ प्रसादते पाय॥६२॥

टीका-हे भारत! सब प्रकार से उसी ईश्वर की शरणागत होकर उसी के अनुग्रह से शान्तिपद को और अविनाशी मोक्ष पदको प्राप्त होवोगे॥ ६२॥

इतिते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया॥
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥६३॥

दोहा-मैं सुगुप्त से गुप्त यह, कह्यो ज्ञान तोहिं वीर॥
तुम सम्पूर्ण बिचारि यह, जिमि चह तिमि करुधीर॥६३॥

टीका-हे अर्जुन! इस भाँति गुप्त से भी गुप्त यह ज्ञान मैंने तुम प्रति वर्णन किया इस ज्ञान को भली भाँति पूर्ण रूपसे जान कर जो तुम्हारी इच्छा हो उसको करो॥ ६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः॥
इष्टोऽसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

दोहा-पुनि मम बचन सुनहु तुम, परम गोप्य मन जोय॥
अहो परम प्रिय मम सदा, कहिहौं तुव हित सोय॥६४॥

टीका-हे अर्जुन! तुम हमको अत्यन्त प्रिय हो इसलिये फिर भी अणिमादि सिद्धियों के साधन भूत अत्यन्त गुप्त आपके लिये कल्याण कारक ऐसा वचन मैं कहता हूँ उसको तुम सुनो॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।६५।

दोहा-मोको भजि तू सत्य यह, मोहिं में मन राखि ।
अन्त समय मोहि पावहू, कहौं प्रतिज्ञा भाखि ॥ ६५ ॥

टीका – हे अर्जुन ! तुम मेरेही में मन लगाओ, मेरेही भक्त होजावो, मेरेही लिये यजन पूजन करो, मुझको ही नमस्कार करो, ऐसा करने से तुम यह सत्यही जानो कि प्रसाद से चित्त शुद्धि द्वारा परमोत्तम ज्ञान को प्राप्त होकर सच्चिदानन्द स्वरूप (ब्रह्म) को प्राप्त होवोगे ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ६६

दोहा–सकल धर्म फल तजि गहहु, मेरो शरण अनन्य ॥
सब अकर्म तुव नासिहौं, जनि सोचहु तुम धन्य ॥६६॥

टीका-तुम नित्य नैमित्तिकादि समस्त कर्मों के फल की इच्छा को त्याग करके एक हमारे ही शरण होवो हम आप करके मारे हुये भीष्मादिकों के पाप से तुम को मुक्त करैंगे ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाऽशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

दोहा-मम निन्दक श्रद्धा रहित, भक्तिहीन तपहीन ।
तिन प्रति गीताज्ञान यह, कबहु न कहिये हीन ॥ ६७ ॥

टीका—यह गीता शास्त्र तुम उस मनुष्य को जो मेरी भक्ति मेरी श्रद्धा, मेरा धर्म, गुरू की सेवा आदि सत्कर्म न करता हो उसको कदापि न सुनाना ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

दोहा—मम भक्तन सो जो कहै, यह गीता पर ज्ञान ॥
तिन कीन्हीं मम भक्ति पर, लहहिं मोहि मतिमान॥६८॥

टीका—जो पुरुष यह गीता शास्त्र रूप रहस्य को मेरे भक्तों को उपदेश करता है सो पुरुष मेरी भक्ति को करते हुये निःसन्देह मुक्त होकर मुझमें प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः॥
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

दोहा-प्रिय कर्ता मोहि अपर नहिं, ताते मनुज न कोय ॥
ताते प्रियकृत भुवि न मोहिं, अर्जुन दूसर होय ॥६९॥

टीका—जो पुरुष इस गीता शास्त्र का यथार्थरूप से उपदेश करेगा उस पुरुष के सामने इस संसार में न मुझे और न उसे और प्रिय पुरुष है ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः॥
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

दोहा—धमवाद हम जो कियो, पढ़ै जो कोऊ जानि ॥
ज्ञान यज्ञ तिनहू यजो, यह मेरो मत मानि ॥ ७० ॥

टीका—जो कोई पुरुष यह मेरा और आपका धर्म युक्तसम्वाद पढ़ैगा सो ज्ञान यज्ञ द्वारा मेरी आराधना करके उसने मानों मुझे निश्चय सन्तुष्ट किया ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः॥
सोपिमुक्तश्शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्

दोहा—श्रद्धायुत निन्दा रहित, जो यह सुनै अशोक ॥
सकल पाप से मुक्त ह्वै, लहै पुण्य कृत लोक ॥७१॥

टीका—जो पुरुष निन्दा रहित होकर भक्ति भाव युक्त अन्तःकरण से इस गीता शास्त्रको श्रवण करता है सो समस्त पापों से मुक्त होकर पुण्य कृत लोकों में उसे वास मिलता है७१

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

दोहा—अर्जुन करि एकाग्रचित, सुन्यो कह्यो हम जोय ॥
मिटो मोह अज्ञान तुव, कहहु धनंजय सोय ॥७२॥

टीका—हे अर्जुन ! तुमने एकाग्र मन करके यह गीता शास्त्र सुना या नहीं और उसके सुनने से तुम्हारा अज्ञान नष्ट हुआ कि नहीं सो कहिये ॥७२॥ ॥ अर्जुन उवाच ॥

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ॥
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

दोहा—तुम प्रसाद अच्युत मिटो,मोह लह्यो विज्ञान ॥
करिहौं तुम आज्ञा समर, सब सन्देह बिलान ॥ ७३॥

टीका—यह सुन अर्जुन बोले कि हे अच्युत ! आपकी अनुग्रह से मेरा मोह नष्ट हुआ मुझे निज स्वरूप की स्मृति हुई तथा सन्देह से निवृत्त होकर निस्सन्देह मैं आपके सन्मुख खड़ा हूँ अब जो आज्ञा हो सो कहिये ॥ ७३ ॥ संजय उवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

दोहा—हरि अर्जुन सम्वाद यह, सुनौं मैं सतिभाय ॥
अचरज रूप अनूप अति, रोम हर्ष ह्वै जाय ॥ ७४॥

टीका—सञ्जय ने धृतराष्ट्र प्रति कहा कि हे राजन् ! यह श्री कृष्णार्जुन अद्भुत रोम हर्षण सम्वाद मैंने भली भाँति सुना कि जिसके सुनने से रोम हर्ष होता है ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ॥
योगंयोगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतःस्वयम् ।

दोहा—यह सुन व्यास प्रसादते, मम सुयोग परिताप ॥
कहत योगिवर कृष्णते साक्षातही आप ॥ ७५ ॥

टीका—हे धृतराष्ट्र ! श्री वेदव्यास की असीम कृपा से योगेश्वर श्री कृष्णचन्द्रजी आपही कहते थे उनके मुख से यह अत्यन्त गुप्त ज्ञान योग मैंने सुन लिया यह गुरुजी की परम अनुग्रह मुझ पर हुई और मैं अत्यन्त धन्य हूँ ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

दोहा—राजन केशव पार्थके, यह अद्भुत सम्वाद।
समुझि २ पुनि २ लहौ, पुलक विहीन विषाद ॥७६॥

टीका—हे धृतराष्ट्र ! यह कृष्ण और अर्जुन का सम्वाद अत्यन्त अद्भुत और परम पुण्यप्रद है जब २ मुझे स्मरण आता है तब तब अति सन्तोष को मैं प्राप्त होता हूँ ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपंचात्यद्भुतं हरेः।
विस्मयोमेमहान्राजन्हृष्यामिचपुनः पुनः ७७

दोहा—समुझि २ हरि रूप मैं, विश्वरूप नरपाल ॥
विस्मय युत पुनि २ लहौं, अतिसै हर्ष विशाल ॥ ७७ ॥

टीका—हे राजन् ! श्री भगवान् का अत्यन्त आश्चर्य कारक विराट रूप को देख और इसका स्मरण करके मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है और इसी कारण से मैं बारम्बार अति आनन्द पाता हूँ ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगोनामाष्टादशोऽध्यायः ॥७८॥

दोहा—कृष्ण जहाँ योगाधिपति, पारथ जहँ धनपानि ।
लक्ष्मी बिजय विभूत जय, तहाँ बसहि रतिमानि ७८

टीका—हे राजन् ! जिस पक्षमें योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजी और धनुषधारी अर्जुन हैं उसी ओर राज्य-लक्ष्मी, विजय-नीति है यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे उन्नाव प्रान्तस्थ बरौड़ा ग्राम निवासी पं० महाराज दीन दीक्षित कृत भाषाटीका दोहा व्याख्यायां संन्यास योगोनामाष्टादशोऽध्यायः १७

अथ सप्तश्लोकी गीता प्रारम्भः ।

श्रीगणेशायनमः । श्रीसरस्वत्यैनमः । श्री गुरुभ्योनमः ।

ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं सयाति परमांगतिम् ॥ १ ॥

स्थानेहृषीकेशतवप्रकीर्त्याजगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यतेच ।
रक्षांसिभीतानिदिशोद्रवन्तिसर्वेनमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोकेसर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ३ ॥

कविंपुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णंतमसः परस्तात् ॥४॥

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥५॥

सर्वस्यचाहंहृदिसंनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनंच ।
वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम् ॥६॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजीमां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यासियुक्त्वैवमात्मानंमत्परायणः ॥७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे सप्तश्लोकी गीता समाप्ता ।